

# वर्णाश्रमधर्मप्रकाश ॥

जिसको

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री १०८ श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी गिरि ने वर्ण और आश्रमो के कल्याण के लिये निर्मित किया ॥

तथा

श्रीमान् विद्वद्वर्य श्री पण्डित जयदयाल जी शर्मा शास्त्री संस्कृत-प्रधानाध्यापक श्री दर्बार हाई स्कूल बीकानेर ने जिस का संशोधन किया ॥

प्रकटकर्ता-उक्त महाराज का शिष्य (श्रीमहाराजभीमसिंहजी-सुत) महाराज रामकिशनसिंह वर्मा (बीकानेर)

बम्बई-निर्णयसागर छापाखाना में बालकृष्ण रामचंद्र घाणेकर मालिक ने स्वप्रबन्ध से छपाया ॥



संवत् १९६६ विक्रमीय ॥

प्रथम बार १००८ प्रति



मूल्य प्रति पुस्तक आठ आना





# वर्णाश्रमधर्मप्रकाश ॥

## जिसको

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री १०८ श्री स्वामी
ब्रह्मानन्द जी गिरि ने वर्ण और आश्रमो के
कल्याण के लिये निर्मित किया ॥

तथा

श्रीमान् विद्वद्वर्य श्री पण्डित जयदयाल जी शर्मा शास्त्री संस्कृत-
प्रधानाध्यापक श्री दर्बार हाई स्कूल बीकानेर
ने जिस का संशोधन किया ॥

प्रकटकर्ता–उक्त महाराज का शिष्य (श्रीमहाराजभीमसिं-
हजी–सुत) महाराज रामकिशनसिंह वर्मा (बीकानेर)

बम्बई–निर्णयसागर छापाखाना में बालकृष्ण रामचंद्र
घाणेकर मालिक ने स्वप्रबन्ध से छपाया ॥



संवत् १९६६ विक्रमीय ॥

प्रथम वार १००० प्रति  मूल्य प्रति पुस्तक आठ आना

पुस्तक मिलनेका पता—

स्वामी श्री ब्रह्मानन्द जी गिरि सन्यासी ॥

ठिकाना—अलखमठ ॥

बीकानेर ( राजपूताना ) ॥



# प्रस्तावना ॥

इस बात को प्राय सब ही जानते और मानते है कि–ससारवर्ती प्राणिमात्र की अभिलाषा सुखप्राप्ति के लिये अहर्निश ( दिनरात ) रहती है अर्थात् कृमि कीट से ले कर हस्तिपर्यन्त सर्व प्राणी शोक और भय आदि दु खप्रद ( दु ख के देने वाले ) कारणों से बचते और सुख की वाछा करते है, जब तिर्यग्योनि जीवों की भी यह दशा है तो भला ज्ञान और बुद्धि आदि मानसिक और आत्मिक शक्तियों से युक्त मनुष्य का तो कहना ही क्या है, अर्थात् मनुष्य को तो सुख की अभिलाषा होनी ही चाहिये, इसी लिये न्यायशास्त्र में कहा है कि–"सुखानुशायी राग ॥ १ ॥ दु खानुशायी द्वेष" ॥ २ ॥ अर्थात् प्राणिमात्र का सुख में अनुराग और दु ख में द्वेप होता है, इस समय हम को पशु और पक्ष्यादि तिर्यग् जीवों के कार्यों का विवेचन नहीं करना है किन्तु–प्राणिमात्र में श्रेष्ठ जो मनुष्य है तथा उस की जो सुखविषयिणी अभिलाषा है उसी के विषय में कुछ वक्तव्य ( कहना ) है, क्योंकि–यह तो निश्चित ही है कि–मनुष्य की जो सुखविषयिणी अभिलाषा है यदि वह ठीक रीति से पूर्ण हो जावे तो उस ( मनुष्य ) के आधीन रहने वाले तिर्यग् जीवों को सुख का प्राप्त होना एक साधारण ( मामूली ) बात है ।

दृष्टि पसार कर देखने से ज्ञात होता है कि–इस ससार में मनुष्यमात्र अर्थात् विद्वान् से ले कर मूर्खपर्यन्त इस बात की अभिलाषा करता है कि–मुझे उभय ( दोनों ) लोक का सुख प्राप्त हो, अर्थात् ससार में मै धन, सन्तान, प्रतिष्ठा, अरोगता, विद्या, बल और बुद्धि आदि गुणो से युक्त हो कर सुखपूर्वक ( सुख के साथ ) अपनी जीवनयात्रा को समाप्त करूँ तथा परलोक में मैं कैवल्यजन्य अक्षय सुख को प्राप्त होऊँ, परन्तु यह बात तो निश्चित ही है कि–कारण के विना कार्य की सिद्धि कदापि नहीं होती है, इस लिये मनुष्य को चाहिये कि–सुखप्राप्तिरूप कार्य का

जो मुख्य कारण है उस को ढूंढे और उसी के अनुसार वर्ताव करे तब ही उस की उक्त अभिलाषा पूर्ण हो सकती है।

सर्वतन्त्र सिद्धान्त से यह बात निश्चित है कि–सम्पूर्ण सुखों की प्राप्ति का एक मात्र साधन धर्म ही है, देखिये! न्यायशास्त्र मे कहा है कि–"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्म" अर्थात् धर्म से ही लौकिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति होती है, तात्पर्य यह है कि–जब मनुष्य वेद और स्मृति ( धर्मशास्त्र ) में कहे हुए अपने धर्म ( कर्तव्य ) का आचरण करता है तब ही उस के त्रिविध ( तीन प्रकार के अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ) दुःखों की निवृत्ति हो कर सर्व सुखो की प्राप्ति होती है, क्योंकि–ससार में सर्व प्रकार के वॉछित फलों का देनेवाला केवल धर्म ही है।

वृद्ध गौतमसहिता में कहा है कि–"धर्मादर्थश्च कामश्च, धर्माद् भोगाः सुखानि च ॥ धर्मादैश्वर्यमेवञ्च, धर्मात्स्वर्गगतिः प्रभो" ॥ १ ॥ अर्थात् वेदोक्त धर्म से अर्थ ( रत्न, सोना, चॉदी आदि द्रव्य ) और काम ( इच्छानुकूल स्त्री और पुत्रादि ) की सिद्धि होती है, धर्म से ही भोग ( नाना प्रकार के अन्न और वस्त्र आदि ) और सुखों की प्राप्ति होती है तथा धर्म से ही राज्यादि ऐश्वर्य और स्वर्ग की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

महाभारत में श्री व्यास जी ने कहा है कि–"विद्या रूप धन सौख्य, कुलीनत्वमरोगिता ॥ राज्य स्वर्गश्च मोक्षश्च, सर्व धर्मादवाप्यते" ॥ १ ॥ अर्थात् विद्या ( शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान ), रूप ( उत्तम कान्ति ), धन ( रत्न तथा सुवर्णादि अथवा हाथी घोडा आदि ), सौख्य ( अनुकूल स्त्री पुत्र तथा भृत्यादिजन्य आनन्द ), कुलीनत्व ( उत्तम कुल में जन्म ), अरोगिता ( शरीर का व्याधिरहित होना ), राज्य ( उत्तम ऐश्वर्यादि ), स्वर्ग ( देवलोक ) और मोक्ष, ये सब पदार्थ धर्म से ही प्राप्त होते हैं अर्थात् जो पुरुष श्रद्धा और भक्ति के सहित अपने धर्म का अनुष्ठान करता है उसी को ईश्वर उक्त विद्या आदि पदार्थ प्रदान करता है॥ १ ॥

श्री कृष्ण भगवान् ने गीता के अठारहवें अध्याय में कहा है कि–

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य, सिद्धिं विन्दति मानवः" अर्थात् जो मनुष्य वेद और स्मृति में कहे हुए अपने कर्तव्य को पूर्ण कर उस परमेश्वर का पूजन करता है वही मनुष्य सिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है, तात्पर्य यह है कि–वेद और स्मृति में कहे हुए अपने कर्तव्य के पूर्ण करने से ईश्वर प्रसन्न होता है तथा वह (ईश्वर) उस (अपने कर्तव्य को पूर्ण करने वाले) मनुष्य को वाञ्छित फल देता है।

इसी प्रकार अन्य सब ऋषि मुनि महात्माओं ने धर्म को ही सुख-प्राप्ति का एकमात्र साधन कहा है, अत एव सांसारिक धनादि पदार्थों से ले कर मोक्षपर्यन्त की इच्छा करने वाले मनुष्यों को उचित है कि–वे धर्म का ही अनुष्ठान करें, क्योंकि–उक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि–धर्मा-नुष्ठान के विना उक्त फल की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती है।

ऊपर लिखे अनुसार तथा सर्वतन्त्र सिद्धान्त से यह तो निश्चित ही है कि–धर्म का यथार्थ ज्ञान वेद और धर्मशास्त्र के द्वारा होता है परन्तु वे (वेद और धर्मशास्त्र) संस्कृत भाषा में होने से अति कठिन तथा विस्तृत हैं, इस लिये सर्व साधारण जन उन को न तो पढ़ सकते है, न समझ सकते है और न उन के द्वारा अपने धर्म का ही परिज्ञान कर सकते है, इस के सिवाय सरल भाषा में ऐसे कोई ग्रन्थ भी नहीं देखे जाते हैं कि–जिन में चारों वर्णों और चारों आश्रमों का कर्तव्य अच्छे प्रकार से वर्णित हो और जिन को पढ़ कर सर्व जन अपने कर्तव्य को समझ कर उसी के अनुसार वर्ताव कर अपने वाञ्छित फल को प्राप्त हो सकें।

उक्त अभाव को विचार कर हमारा चिर काल से यह विचार था कि–उक्त विषय का कोई अति सरल ग्रन्थ बनाया जावे कि जिस से सर्व साधारण का उपकार हो सके, केवल इतना ही नहीं किन्तु इस कार्य के लिये अनेक भक्त और सुजनों की प्रेरणा भी थी अतः लोकोपकारार्थ इस (वर्णाश्रमधर्मप्रकाश नामक) छोटे से ग्रन्थ का निर्माण कर सुजनों की सेवा में इस का समर्पण किया जाता है, आशा है कि–भद्र जन परमार्थसाधक इस अल्प उपहार को स्वीकृत कर हमें अनुगृहीत करेंगे।

१ इस ग्रन्थ में श्रुति, स्मृति, उपनिषद्, सूत्र और गीता आदि अनेक प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के प्रमाण दे कर उन का अर्थ अति सरल भाषा में किया गया है कि–जिसे भाषा जानने वाले साधारण जन भी पढ़ कर उस के तत्व को भली भाँति समझ कर लाभ उठा सकते हैं।

विशेषता यह है कि–इस छोटे से ग्रन्थ में वर्ण और आश्रमसम्बन्धी आवश्यक विषय का ठीक रीति से समावेश कर दिया गया है अर्थात् ब्राह्मणादि चारों वर्णों की उत्पत्ति, लक्षण और कर्तव्य का तथा ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों का विभाग, कर्म और अवधि आदि का उत्तम प्रकार से वर्णन किया गया है, इस के अतिरिक्त राजाओं के धर्म तथा वर्णधर्म के त्याग का निषेध आदि कई एक आवश्यक विषयों का भी कथन किया गया है।

दृढ़ निश्चय है कि–जो जिज्ञासु पुरुष इस ग्रन्थ को आद्योपान्त (आदि से अन्त तक) पढ़ कर इस के तत्व का विचार करेगा उस को यथार्थ धर्म का ज्ञान अवश्य होगा।

इस ग्रन्थ के निर्माण और संशोधन आदि कार्यों में श्रीयुत विद्वद्वर्य श्री पण्डित जयदयाल जी शर्मा शास्त्री संस्कृतप्रधानाध्यापक श्री दर्बार हाईस्कूल (बीकानेर) ने हमें पूर्ण सहायता प्रदान की है, अत उक्त पण्डित जी महोदय को हम अपने शुद्धान्तःकरण से अनेकानेक धन्यवाद देते है।

अन्त में सुजनों से हमारी पुन· २ प्रार्थना है कि–वे इस ग्रन्थ का अवलोकन कर अपने धर्म को समझ कर तथा उसी के अनुसार वर्ताव कर मनुष्यजन्म के धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों फलों को प्राप्त करें तथा जो कुछ इस ग्रन्थ में त्रुटि वा छापे आदि की अशुद्धि हो उस को क्षमा करें, क्योंकि–मनुष्य से भूल का होना एक साधारण बात है, किम्बहुना–विज्ञेषु।

ग्रन्थनिर्माता, ब्रह्मानन्द गिरि संन्यासी।

ठिकाना–अलखमठ–बीकानेर (राजपूताना)॥



# वर्णाश्रमधर्मप्रकाश ॥

## जिसको

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री १०८ श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी गिरि ने वर्ण और आश्रमों के कल्याण के लिये निर्मित किया ॥

तथा

श्रीमान् विद्वद्वर्य श्री पण्डित जयदयाल जी शर्मा शास्त्री संस्कृत-प्रधानाध्यापक श्री दर्बार हाई स्कूल बीकानेर ने जिस का संशोधन किया ॥

प्रकटकर्ता—उक्त महाराज का शिष्य (श्रीमहाराजभीमसिंहजी–सुत) महाराज रामकिशनसिंह वर्मा (बीकानेर)

बम्बई—निर्णयसागर छापाखाना में बालकृष्ण रामचंद्र घाणेकर मालिक ने स्वप्रबन्ध से छपाया ॥



संवत् १९६६ विक्रमीय ॥

प्रथम वार १००० प्रति  मूल्य प्रति पुस्तक आठ आना

पुस्तक मिलनेका पता—

स्वामी श्री ब्रह्मानन्द जी गिरि सन्यासी ॥

ठिकाना—अलखमठ ॥

बीकानेर ( राजपूताना ) ॥



## प्रस्तावना ॥

इस वात को प्राय सब ही जानते और मानते है कि–ससारवर्ती प्राणिमात्र की अभिलाषा सुखप्राप्ति के लिये अहर्निश ( दिनरात ) रहती है अर्थात् कृमि कीट से ले कर हस्तिपर्यन्त सर्व प्राणी शोक और भय आदि दु खप्रद ( दु ख के देने वाले ) कारणों से बचते और सुख की वाछा करते है, जब तिर्यग्योनि जीवों की भी यह दशा है तो भला ज्ञान और बुद्धि आदि मानसिक और आत्मिक शक्तियों से युक्त मनुष्य का तो कहना ही क्या है, अर्थात् मनुष्य को तो सुख की अभिलाषा होनी ही चाहिये, इसी लिये न्यायशास्त्र में कहा है कि–"सुखानुशायी राग" ॥ १ ॥ दु खानुशायी द्वेष " ॥ २ ॥ अर्थात् प्राणिमात्र का सुख में अनुराग और दु ख में द्वेष होता है, इस समय हम को पशु और पक्ष्यादि तिर्यग् जीवों के कार्यों का विवेचन नहीं करना है किन्तु–प्राणिमात्र में श्रेष्ठ जो मनुष्य है तथा उस की जो सुखविषयिणी अभिलाषा है उसी के विषय में कुछ वक्तव्य ( कहना ) है, क्योंकि–यह तो निश्चित ही है कि–मनुष्य की जो सुखविषयिणी अभिलाषा है यदि वह ठीक रीति से पूर्ण हो जावे तो उस ( मनुष्य ) के आधीन रहने वाले तिर्यग् जीवों को सुख का प्राप्त होना एक साधारण ( मामूली ) बात है ।

दृष्टि पसार कर देखने से ज्ञात होता है कि–इस ससार में मनुष्यमात्र अर्थात् विद्वान् से ले कर मूर्खपर्यन्त इस बात की अभिलाषा करता है कि–मुझे उभय ( दोनों ) लोक का सुख प्राप्त हो, अर्थात् ससार में मैं धन, सन्तान, प्रतिष्ठा, अरोगता, विद्या, बल और बुद्धि आदि गुणों से युक्त हो कर सुखपूर्वक ( सुख के साथ ) अपनी जीवनयात्रा को समाप्त करूँ तथा परलोक में मैं कैवल्यजन्य अक्षय सुख को प्राप्त होऊँ, परन्तु यह बात तो निश्चित ही है कि–कारण के विना कार्य की सिद्धि कदापि नहीं होती है, इस लिये मनुष्य को चाहिये कि–सुखप्राप्तिरूप कार्य का

जो मुख्य कारण है उस को ढूँढे और उसी के अनुसार वर्ताव करे तब ही उस की उक्त अभिलाषा पूर्ण हो सकती है।

सर्वतन्त्र सिद्धान्त से यह बात निश्चित है कि–सम्पूर्ण सुखों की प्राप्ति का एक मात्र साधन धर्म ही है, देखिये! न्यायशास्त्र में कहा है कि– "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" अर्थात् धर्म से ही लौकिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति होती है, तात्पर्य यह है कि–जब मनुष्य वेद और स्मृति ( धर्मशास्त्र ) में कहे हुए अपने धर्म ( कर्तव्य ) का आचरण करता है तब ही उस के त्रिविध ( तीन प्रकार के अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ) दुःखों की निवृत्ति हो कर सर्व सुखों की प्राप्ति होती है, क्योंकि–संसार में सर्व प्रकार के वाँछित फलों का देने वाला केवल धर्म ही है।

वृद्ध गौतमसंहिता में कहा है कि–"धर्मादर्थश्च कामश्च, धर्माद् भोगाः सुखानि च ॥ धर्मादैश्वर्यमेवश्च, धर्मात्स्वर्गगति प्रभो" ॥ १ ॥ अर्थात् वेदोक्त धर्म से अर्थ ( रत्न, सोना, चाँदी आदि द्रव्य ) और काम ( इच्छानुकूल स्त्री और पुत्रादि ) की सिद्धि होती है, धर्म से ही भोग ( नाना प्रकार के अन्न और वस्त्र आदि ) और सुखों की प्राप्ति होती है तथा धर्म से ही राज्यादि ऐश्वर्य और स्वर्ग की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

महाभारत में श्री व्यास जी ने कहा है कि–"विद्या रूप धन सौख्य, कुलीनत्वमरोगिता ॥ राज्य स्वर्गश्च मोक्षश्च, सर्वे धर्मादवाप्यते" ॥ १ ॥ अर्थात् विद्या ( शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान ), रूप ( उत्तम कान्ति ), धन ( रत्न तथा सुवर्णादि अथवा हाथी घोडा आदि ), सौख्य ( अनुकूल स्त्री पुत्र तथा भृत्यादिजन्य आनन्द ), कुलीनत्व ( उत्तम कुल में जन्म ), अरोगिता ( शरीर का व्याधिरहित होना ), राज्य ( उत्तम ऐश्वर्यादि ), स्वर्ग ( देवलोक ) और मोक्ष, ये सब पदार्थ धर्म से ही प्राप्त होते हैं अर्थात् जो पुरुष श्रद्धा और भक्ति के सहित अपने धर्म का अनुष्ठान करता है उसी को ईश्वर उक्त विद्या आदि पदार्थ प्रदान करता है॥ १ ॥

श्री कृष्ण भगवान् ने गीता के अठारहवें अध्याय में कहा है कि–

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य, सिद्धिं विन्दति मानव" अर्थात् जो मनुष्य वेद और स्मृति में कहे हुए अपने कर्तव्य को पूर्ण कर उस परमेश्वर का पूजन करता है वही मनुष्य सिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है, तात्पर्य यह है कि—वेद और स्मृति में कहे हुए अपने कर्तव्य के पूर्ण करने से ईश्वर प्रसन्न होता है तथा वह (ईश्वर) उस (अपने कर्तव्य को पूर्ण करने वाले) मनुष्य को वाञ्छित फल देता है।

इसी प्रकार अन्य सब ऋषि मुनि महात्माओं ने धर्म को ही सुख-प्राप्ति का एकमात्र साधन कहा है, अत एव सांसारिक धनादि पदार्थों से ले कर मोक्षपर्यन्त की इच्छा करने वाले मनुष्यों को उचित है कि—वे धर्म का ही अनुष्ठान करें, क्योंकि—उक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि—धर्मानुष्ठान के विना उक्त फल की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती है।

ऊपर लिखे अनुसार तथा सर्वतन्त्र सिद्धान्त से यह तो निश्चित ही है कि—धर्म का यथार्थ ज्ञान वेद और धर्मशास्त्र के द्वारा होता है परन्तु वे (वेद और धर्मशास्त्र) संस्कृत भाषा में होने से अति कठिन तथा विस्तृत हैं, इस लिये सर्व साधारण जन उन को न तो पढ सकते हैं, न समझ सकते हैं और न उन के द्वारा अपने धर्म का ही परिज्ञान कर सकते हैं, इस के सिवाय सरल भाषा में ऐसे कोई ग्रन्थ भी नहीं देखे जाते है कि—जिन में चारों वर्णों और चारों आश्रमों का कर्तव्य अच्छे प्रकार से वर्णित हो और जिन को पढ कर सर्व जन अपने कर्तव्य को समझ कर उसी के अनुसार वर्ताव कर अपने वाञ्छित फल को प्राप्त हो सकें।

उक्त अभाव को विचार कर हमारा चिर काल से यह विचार था कि—उक्त विषय का कोई अति सरल ग्रन्थ बनाया जावे कि जिस से सर्व साधारण का उपकार हो सके, केवल इतना ही नहीं किन्तु इस कार्य के लिये अनेक भक्त और सुजनों की प्रेरणा भी थी अत लोकोपकारार्थ इस (वर्णाश्रमधर्मप्रकाश नामक) छोटे से ग्रन्थ का निर्माण कर सुजनों की सेवा में इस का समर्पण किया जाता है, आशा है कि—भद्र जन परमार्थसाधक इस अल्प उपहार को स्वीकृत कर हमें अनुगृहीत करेंगे।

इस ग्रन्थ में श्रुति, स्मृति, उपनिषद्, सूत्र और गीता आदि अनेक प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के प्रमाण दे कर उन का अर्थ अति सरल भाषा में किया गया है कि–जिसे भाषा जानने वाले साधारण जन भी पढ कर उस के तत्व को भली भाँति समझ कर लाभ उठा सकते हैं।

विशेषता यह है कि–इस छोटे से ग्रन्थ में वर्ण और आश्रमसम्बन्धी आवश्यक विषय का ठीक रीति से समावेश कर दिया गया है अर्थात् ब्राह्मणादि चारों वर्णों की उत्पत्ति, लक्षण और कर्तव्य का तथा ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों का विभाग, कर्म और अवधि आदि का उत्तम प्रकार से वर्णन किया गया है, इस के अतिरिक्त राजाओं के धर्म तथा वर्णधर्म के त्याग का निषेध आदि कई एक आवश्यक विषयों का भी कथन किया गया है।

दृढ़ निश्चय है कि–जो जिज्ञासु पुरुष इस ग्रन्थ को आद्योपान्त (आदि से अन्त तक) पढ़ कर इस के तत्व का विचार करेगा उस को यथार्थ धर्म का ज्ञान अवश्य होगा।

इस ग्रन्थ के निर्माण और संशोधन आदि कार्यों में श्रीयुत विद्वद्वर्य श्री पण्डित जयदयाल जी शर्मा शास्त्री संस्कृतप्रधानाध्यापक श्री दर्बार हाईस्कूल (बीकानेर) ने हमें पूर्ण सहायता प्रदान की है, अत उक्त पण्डित जी महोदय को हम अपने शुद्धान्तःकरण से अनेकानेक धन्यवाद देते है।

अन्त में सुजनों से हमारी पुन २ प्रार्थना है कि–वे इस ग्रन्थ का अवलोकन कर अपने धर्म को समझ कर तथा उसी के अनुसार वर्ताव कर मनुष्यजन्म के धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारो फलों को प्राप्त करें तथा जो कुछ इस ग्रन्थ में त्रुटि वा छापे आदि की अशुद्धि हो उस को क्षमा करें, क्योंकि–मनुष्य से भूल का होना एक साधारण बात है, किम्बहुना–विज्ञेषु।

ग्रन्थनिर्माता, ब्रह्मानन्द गिरि संन्यासी।

ठिकाना–अलखमठ–बीकानेर (राजपूताना)॥

## ब्राह्मणलक्षण ॥

ऊपर कह चुके हैं कि–जन्म तथा गुणो की अपेक्षा ब्राह्मण–क्षत्रियादि तीनों वर्णों से बड़ा माना जाता है, इन में से जन्म के द्वारा जो ब्राह्मण को बड़ा माना जाता है वह तो एक साधारण और स्वाभाविक बात है परन्तु गुणो के द्वारा जो ब्राह्मण को बड़ा माना जाता है उस विषय में प्राचीन प्रमाणों के सहित कुछ उल्लेख किया जाता है:—

**योगस्तपो दमो दानं, सत्यं शौचं दया श्रुतम् ॥**
**विद्या विज्ञानमास्तिक्य, मेतद्ब्राह्मणलक्षणम् ॥ १ ॥**

(वशिष्ठसंहितायाम्)

अर्थ—योग (चित्त की स्थिरता), तप (चान्द्रायणादि व्रत वा मानापमान, निन्दा स्तुति तथा शीतोष्णत्व आदि द्वन्द्वों का सहन करना), दम (मन की स्थिरता), दान (सुपात्रों को अन्न और वस्त्र आदि का देना) सत्य (जैसा देखा वा सुना हो उसी का कथन करना), शौच (बाहर तथा भीतर शुद्ध रहना), दया (चाहे कोई प्राणी हो अथवा अपना बन्धु मित्र हो वा वैरी हो उस को विपत्ति से बाहर निकालना), श्रुत (वेद वेदाङ्ग और धर्मशास्त्रों का जानना) विद्या (उपनिषदों का जानना), विज्ञान (श्रवण मनन और निदिध्यासनादि के द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार करना) तथा आस्तिक्य (परमेश्वर, गुरु, वेद, धर्म, पर लोक, पर जन्म, पूर्व जन्म, कर्मफल और मोक्ष, इन से विमुख न होना अर्थात् इन को यथायोग्य मानना), ये (ग्यारह) ब्राह्मण के लक्षण हैं अर्थात् ये लक्षण जिस पुरुष में पाये जावें उसे ब्राह्मण समझना चाहिये ॥ १ ॥

इसी प्रकार महाभारत में भी कहा गया है किः—

**सत्यं दया क्षमा शील, मानृशंस्यं तपो घृणा ॥**
**दृश्यते यत्र नागेन्द्र, स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ २ ॥**

(महाभारत अ० १२४ वन पर्व)

अर्थ—हे नागेन्द्र[1]! सत्य[2], दया, क्षमा, शील[3] (प्राणिमात्र से द्रोह न करना किन्तु अनुग्रह रखना तथा यथाशक्ति दान देना), आनृशंस्य (दूसरों के साथ कदापि कठोर वर्त्ताव का न करना), तप और घृणा (निषिद्ध कर्मों में ग्लानि रखना), ये (सात) लक्षण जिस पुरुष में देखे जावें उसे ब्राह्मण समझना चाहिये ॥ २ ॥

वृद्ध गौतम संहिता में कहा है किः—

**क्षान्तं दान्तं जितक्रोधं, जितात्मानं जितेन्द्रियम् ॥**
**तमेव ब्राह्मणं मन्ये, शेषाः शूद्रा इति स्मृताः ॥ ३ ॥**

(वृद्ध गौतम संहिता २१)

अर्थ—क्षान्त (क्षमा से युक्त), दान्त (मन के निग्रह से युक्त हो कर उदारतायुक्त), जितक्रोध (क्रोध को जीतने वाला), जितात्मा (आत्मा को जीतने वाला) तथा जितेन्द्रिय (इन्द्रियों

---

१—हे नागेन्द्र! यह जो सम्बोधन है वह सप्त ऋषियों के शाप से सर्पभाव को प्राप्त हुए नहुष राजा के प्रति युधिष्ठिर का कथन है ॥

२—सत्य, दया और तप का विवरण पूर्व श्लोक में कर चुके हैं, इस लिये यहा पर नहीं किया है ॥

३— अद्रोह सर्वभूतेषु, कर्मणा मनसा गिरा ॥
अनुग्रहश्च दानञ्च, शीलमेतद्विदुर्बुधा ॥ १ ॥
इति शीललक्षणप्रतिपादनात् ॥

को जीतने वाला) जो पुरुष है उसी को मैं ब्राह्मण मानता हूँ, शेष तो शूद्र माने गये हैं[2] ॥ ३ ॥

ऊपर के तीन श्लोकों में ब्राह्मण के जो लक्षण कहे गये हैं वे (लक्षण) जिस में मुख्यतया पाये जावें उसी को ब्राह्मण समझना चाहिये; किन्तु जिस ब्राह्मण में उक्त लक्षण प्राप्त न हो उसे (ब्राह्मण के गृह में उत्पन्न होने पर भी) वास्तव में ब्राह्मण नहीं समझना चाहिये[3] ॥

## क्षत्रियलक्षण ॥

पूर्व चारों वर्णों के मिश्रित लक्षण वर्णन में कहा गया था कि–

१–यह श्री कृष्ण भगवान् का कथन राजा युधिष्ठिर से है ॥

२–तात्पर्य यही है कि–जो पुरुष क्षमावान्, मनोनिग्रहपूर्वक उदारतायुक्त, क्रोध को जीतने वाला, आत्मा को वश में रखने वाला तथा विषयों से इन्द्रियों को हटाने वाला है उसी पुरुष को ब्राह्मण माना है तथा जो ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हो कर भी उक्त क्षमा आदि गुणों से युक्त नहीं हैं वे सब शूद्र ही माने गये हैं ॥

३–श्री कृष्ण भगवान् के उक्त कथन से वर्तमान काल के ब्राह्मणों को अवश्य शिक्षा लेनी चाहिये तथा अपने हृदय में इस बात का विचार करना चाहिये कि–महात्माओं ने जो ब्राह्मणों के लक्षण कहे हैं वे हम में विद्यमान हैं वा नहीं, यदि न हों तो उन के उपार्जन के लिये प्रयत्न करना चाहिये तथा उन का उपार्जन कर सदा उन्हीं का सेवन करना चाहिये अर्थात् उन के विपरीत कभी व्यवहार नहीं करना चाहिये तब ही वे (ब्राह्मण) वास्तव में ब्राह्मण और जगत्पूज्य हो सकते हैं, देखो! दोहे में किसी कवि ने भी कहा है कि–शम दम त्याग विराग युत, शीलवन्त श्रुतिवन्त। ज्ञान युक्ति से युक्त जो, सो द्विज द्विजकुलकन्त ॥ १ ॥ इस का अर्थ स्पष्ट ही है अतः उस का लिखना अनावश्यक है ॥

"क्षत्रियों मे वह क्षत्रिय बडा है (वास्तविक क्षत्रिय है) जो कि वेद और स्मृति मे कहे हुए धर्म के अनुकूल अपने पराक्रम की वृद्धि करता है, उस कथन का मुख्य तात्पर्य यही है कि-शास्त्रानुकूल अपने धर्म का निर्वाह कर जो अपने मुख्य लक्षणरूप पराक्रम की वृद्धि करता है तथा उस (पराक्रम) के द्वारा पररक्षण आदि कार्य करता है वही वास्तव में क्षत्रिय है अर्थात् पराक्रम की वृद्धि कर पररक्षा आदि का करना क्षत्रिय का विशेष लक्षण है, इसी लक्षण के भाव को ले कर मुख्यतया क्षत्रिय का सम्पूर्ण धर्म कहा गया है (जिस का संक्षिप्त वर्णन क्षत्रियधर्म तथा राजधर्म मे किया जावेगा), देखो! मनु भगवान् ने क्षत्रिय के धर्मों में सब से प्रथम "प्रजानां रक्षणम्" यह वाक्य कहा है, एवं-राजधर्म के प्रारंभ मे सब से प्रथम कहा है कि:—

**ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं, क्षत्रियेण यथाविधि ॥**
**सर्वस्यास्य यथान्यायं, कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ १ ॥**

(मनु० अध्या० ७ श्लो० २)

अर्थ—वेदोक्त संस्कार को प्राप्त हुए क्षत्रिय को न्याय के अनुसार इस सम्पूर्ण लोकगण की यथाविधि रक्षा करनी चाहिये॥१॥

इसी प्रकार अन्य भी धर्मशास्त्रों तथा नीतिशास्त्रों में क्षत्रिय का मुख्य लक्षण यही (पराक्रम वा शूरता) कहा है-इस विषय मे विशेष प्रमाणों का उल्लेख कर हम ग्रन्थ को बढाना अनावश्यक समझते है।

उक्त कथन को विचार कर क्षत्रिय को उचित है कि-अपने मुख्य लक्षण (पराक्रम) का कभी त्याग न करे, क्योंकि-इस के परित्याग करने से वह वास्तव में क्षत्रिय नही माना जा सकता है[1]॥

---

१-विदुरनीति के अनुवादरूप दोहो मे भाषा के कवि ने कहा है कि—

## वैश्यलक्षण ॥

पहिले चारो वर्णों के विशेष लक्षणो के वर्णन मे कहा जा चुका है कि–"वैश्यों में वह वैश्य वडा है जो कि वेद और स्मृति में कहे हुए धर्म के अनुकूल धान्य तथा धन की वृद्धि और रक्षा करता है" उक्त कथन का मुख्य तात्पर्य यही है कि–शास्त्रानुकूल स्वधर्म का अनुष्ठान कर जो धन और धान्य की रक्षा तथा वृद्धि करता है और उस (धन और धान्य) का प्रदान कर सुपात्रों का पोषण करता है वही वास्तव में वैश्य है अर्थात् धन और धान्य की वृद्धि और रक्षा कर सुपात्रों का पोषण करना वैश्य का विशेष लक्षण है, परन्तु स्मरण रहे कि–धन और धान्य की वृद्धि सर्वथा पशुपालन के आधीन है अर्थात् पशुपालन के विना धन और धान्य की वृद्धि कदापि नहीं हो सकती है, अतः जान लेना चाहिये कि–वैश्य का विशेष लक्षण पशुपालन है, इसी विशेष लक्षण के भाव को ले कर मुख्यतया वैश्य का धर्म कहा गया है (जिस का संक्षिप्त वर्णन वैश्यधर्म मे किया जावेगा) देखो! मनु भगवान् ने वैश्य के धर्मों में सब से प्रथम "पशूनां रक्षणम्" यह वाक्य कहा है तथा वैश्यधर्म के वर्णन में भी पशुपालन पर अत्यन्त जोर दिया है, देखो! वे कहते हैं कि:—

**प्रजापतिर्हि वैश्याय, सृष्ट्वा परिददे पशून् ॥**
**ब्राह्मणाय च राज्ञे च, सर्वाः परिददे प्रजाः ॥ १ ॥**

(मनुस्मृ० अध्या० ९ श्लो० ३२७)

---

"दानधीर रनधीर पुनि, आस्तिकवर धर्मिष्ट ॥ तेज शूरता जस सहित सो छत्रिन में शिष्ट ॥ १ ॥ रनकायर मिथ्यावचन, मिथ्याहिंसक जोन ॥ नीति अपटु छत्रीन में, अधम जानिये तोन ॥ २ ॥ इन दोहों का अर्थ स्पष्ट ही है ॥

अर्थ—ब्रह्मा ने पशुओं को रच कर उन्हें (रक्षा के लिये) वैश्य को सौंप दिये तथा सम्पूर्ण प्रजा को रच कर (ज्ञान देने और रक्षा करने के लिये) उसे ब्राह्मण और क्षत्रिय को सौंप दी[१] ॥ १ ॥

इसी प्रकार अन्य भी धर्मशास्त्रों तथा नीतिशास्त्रों में वैश्य का मुख्य लक्षण यही (पशुपालन) कहा है,[२] अतः वैश्य को उचित है कि-अपने मुख्य लक्षण (पशुपालन के द्वारा धन धान्य की वृद्धि कर सुपात्रों का पोषण करना) का कभी त्याग न करे, क्योंकि-इस के परित्याग करने से वह वास्तव में वैश्य ही नहीं माना जा सकता है[३] ॥

## शूद्रलक्षण ॥

पहिले लिख चुके हैं कि-शूद्र अपनी जाति में आयु के द्वारा अर्थात् अवस्था में बड़ा होने से श्रेष्ठ माना जाता है, अब ब्राह्मण आदि जातियों के विशेष लक्षणों के अनुसार शूद्र जाति के भी विशेष लक्षण लिखे जाते हैं:—

**न ज्ञानी न प्रशान्तात्मा, भक्ष्याभक्ष्ये रतोऽशुचिः॥**
**शुश्रूषुरनहंकारः, स शूद्र इति संज्ञितः ॥ १ ॥**

(महाभारत वनपर्व)

१—इस विषय में मनु जी ने कई एक वाक्य कहे हैं जिन में से कुछ वाक्यों का उल्लेख वैश्यधर्म में किया जावेगा ॥

२—एक ही विषय में विशेष प्रमाणों का उल्लेख करना अनावश्यक समझ कर इस विषय में ग्रन्थान्तरों के प्रमाण नहीं लिखे हैं ॥

३—विदुरनीति के अनुवादरूप दोहों में वैश्य के लक्षण ये कहे हैं— धनी चतुर व्यवहार में, शास्त्रनिपुण मतिवन्त ॥ सत आदर कर्त्ता सुरुचि, वैश्य सोइ बुधकन्त ॥ १ ॥ नहिं जानत व्यवहार जो, नहीं शास्त्र में नेहु ॥ छल कर परधन हरन रत, वैश्य अधम गुनि लेहु ॥ २ ॥ इन दोहों का अर्थ स्पष्ट ही है ॥

अर्थ—ज्ञान से रहित, शान्ति से रहित, भक्ष्य (भक्षण करने योग्य) और अभक्ष्य (न भक्षण करने योग्य) पदार्थों में तत्पर, अशुचि (पवित्रता से रहित), सेवा करने के स्वभाव से युक्त तथा अहङ्कार से रहित जो पुरुष है वह शूद्रसंज्ञा वाला है ॥ १ ॥

इसी प्रकार शूद्र के स्वाभाविक लक्षण भागवत में कहे हैं कि:—

**शुश्रूषणं द्विजगवां, देवानां चाप्यमायया ॥**
**तत्र लब्धेन सन्तोषः, शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥ २ ॥**

अर्थ—छल और कपट से रहित हो कर अर्थात् अत्यन्त प्रेम से ब्राह्मण; क्षत्रिय; वैश्य, गौ और देवों की सेवा करना तथा इन्हीं की सेवा के द्वारा जो कुछ प्राप्त हो जावे उसी में सन्तोष रखना अर्थात् उसी से अपना निर्वाह करना, ये शूद्र की प्रकृतियां हैं अर्थात् ये लक्षण स्वभावसिद्ध (स्वाभाविक) जिस में हों उसे शूद्र समझना चाहिये ॥ २ ॥

---

१—पवित्र अन्न आदि ॥

२—जूठा वा बासा आदि अपवित्र अन्न ॥

३—"भक्ष्य और अभक्ष्य पदार्थों में तत्पर" अर्थात् भक्ष्य और अभक्ष्य पदार्थों का खाने वाला ॥

४—"अहङ्कार से रहित" अर्थात् अपमान आदि होने पर भी अहङ्कार न करने वाला ॥

५—तात्पर्य यह है कि—ये लक्षण जिस में पाये जावें उसे शूद्र जानना चाहिये ॥

६—ऐसा ही किसी भाषा के कवि ने दोहे में कहा है—सेवा तीनहुँ वर्ण की, करे अछल चित होय ॥ अल्प लाभ सन्तोष जिहि, शूद्र शिष्ट है सोय ॥ १ ॥ इस दोहे का अर्थ स्पष्ट ही है अत लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु—ऊपर जो कुछ लिखा गया है वही भाव इस दोहे में वर्णित है ॥

यह प्रथम अध्याय का वर्णलक्षणवर्णन नामक दूसरा प्रक समाप्त हुआ ॥

---

## तृतीय प्रकरण—वर्णधर्मवर्णन ॥

### वर्णधर्म्मविचार ॥

पहिले लिख चुके हैं कि–"यद्यपि सर्वशक्तिमान् परमात्मा चराचररूप जगत् को उत्पन्न किया तथा सम्पूर्ण लोकों का भाग भी किया तथापि उन में श्रेष्ठता के कारण चारों वर्णों पृथक् २ कथन किया है, क्योकि–वर्णों को पृथक् २ स्व २ ध मे ही सर्व लोकों की तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है" इस विष को विचार कर सम्पूर्ण अभीष्ट पदार्थों, सुखो तथा मोक्ष इच्छा रखने वाले मनुष्यों को उचित है कि वे शास्त्रोक्त अपने धर्म का सदैव अनुष्ठान कर ईश्वर की आज्ञा का पालन कर अपने मनुष्यजन्म को कृतार्थ करें, देखो! इस चराचर सृष्टि मनुष्य ही सर्वोत्तम माना गया है, जैसा कि महाभारत कहा है कि:—

**भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः, प्राणिनां बुद्धिजीविनः ॥**
**बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा, नरेष्वपि द्विजातयः ॥ १ ॥**

(भारत उ० प० अध्या० ६ श्लो० १)

अर्थ—पृथिव्यादि भूतों में प्राणधारी (कीटादि जीव) श्रेष्ठ हैं, प्राणधारियों में कुछ बुद्धि वाले (हस्त्यादि) जीव श्रेष्ठ हैं, कुछ बुद्धि वालों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्यों में भी द्विजाति (विद्यादि गुण और सब संस्कारों से युक्त ब्राह्मणादि तीन वर्ण) श्रेष्ठ हैं ॥ १ ॥

सब प्राणियो में मनुष्य की उत्तमता इसी लिये मानी गई है

कि वह बुद्धि आदि सर्व साधनों से युक्त होने से ईश्वराज्ञानुकूल अपने कर्त्तव्य को पूर्ण कर संसार में धर्म की वृद्धि कर अपने जन्म को कृतार्थ करने के अतिरिक्त अन्य प्राणियों के लिये भी सुख को उत्पन्न कर सकता है, इस तत्त्व को विचार कर सब वर्णों के मनुष्यों को स्व २ कर्त्तव्य में तत्पर रहना चाहिये ।

अब चारों वर्णों के पृथक् २ धर्म का कथन स्मृति के प्रमाण-सहित संक्षेप से करते हैं ॥

## ब्राह्मणधर्म ॥

यद्यपि ब्राह्मण के धर्म कुछ तो ब्राह्मण के लक्षणों के वर्णन में आ चुके हैं क्योंकि ब्राह्मण के जो लक्षण कह चुके हैं उन में से अधिकांश लक्षण धर्मरूप ( कर्त्तव्यरूप ) ही हैं तथापि स्पष्टता के लिये धर्मशास्त्र में कहे हुए ब्राह्मण के धर्मों का संक्षेप से यहां पर कथन किया जाता है ।

गीता में श्री कृष्ण भगवान् ने कहा है कि:—

**शमो दमस्तपः शौचं, क्षान्तिरार्जवमेव च ॥**
**ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं, ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥१॥**

( गीता अध्या० १८ श्लो० ४२ )

अर्थ—शम (चित्त का शान्त रखना अथवा चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ), दम ( मन का रोकना ), तप ( शीतोष्णत्व आदि द्वन्द्वों का सहन करना अथवा देव. द्विज, स्वगुरु और विद्वानों का योग्य मान करना तथा उद्वेग को न करने वाली सत्य और हित वाणी का बोलना और ब्रह्मचर्यपूर्वक वेद वेदाङ्ग और धर्मशास्त्रों का पढ़ना ), शौच ( बाहरी तथा भीतरी पवित्रता को रखना ), क्षान्ति (दूसरो की की हुई निन्दा का सहन करना ), आर्जव ( कोमलता रखना अर्थात् सब के साथ सरल स्वभाव से

वत्तार्व करना ), ज्ञान (वेद और धर्मशास्त्रों के यथार्थ अर्थ को जानना), विज्ञान (श्रवण मनन और निदिध्यासन आदि के द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार करना ) तथा आस्तिक्य (परमेश्वर; गुरु; वेद; धर्म; परलोक; पर जन्म; पूर्व जन्म; कर्मफल और मोक्ष से विमुख न होना अर्थात् इन को यथायोग्य मानना), ये सब ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं ॥ १ ॥

महाराज मनु जी ब्राह्मण के धर्म के विषय में कहते हैं कि:—

**अध्यापनमध्ययनं, यजनं याजनं तथा ॥**
**दानं प्रतिग्रहश्चैव, ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ २ ॥**

(मनुस्मृति अ० १। श्लो. ८८)

अर्थ—अध्यापन (ब्राह्मण; क्षत्रिय और वैश्य के बालकों को विधिपूर्वक यज्ञोपवीत करा के वेद और शास्त्रों का पढ़ाना), अध्ययन (ब्रह्मचर्यपूर्वक स्वयं वेद और शास्त्रों का पढ़ना), यजन (विधिपूर्वक अग्निहोत्रादि यज्ञ का करना), याजन (विधिपूर्वक दूसरों से यज्ञ का कराना), दान (सुपात्रों को अन्न और वस्त्रादि का देना तथा प्रतिग्रह (न्याय से धनोपार्जन करने वाले गृहस्थों से अन्न और वस्त्र आदि पदार्थों का दान लेना), ये (छः) ब्राह्मणों के धर्म (कर्म) हैं[1] ॥ २ ॥

**अद्रोहेणैव भूताना, मल्पद्रोहेण वा पुनः ॥**
**या वृत्तिस्तां समास्थाय, विप्रो जीवेदनापदि ॥ ३ ॥**

(मनुस्मृति अध्या० ४। श्लो० २)

---

१—ब्राह्मणों के जो ऊपर छः कर्म कहे गये हैं उन में से अध्ययन, यजन और दान, ये तीन कर्म उन के धर्मरूप हैं तथा शेष तीन (अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह) कर्म जीविकारूप हैं ॥

अर्थ—ब्राह्मण को चाहिये कि–जिस[1] जीविका में प्राणियों को पीडा न हो वा अल्प पीडा हो उसी जीविका का आश्रय लेकर आपत्तिरहित समय[2] में अपना निर्वाह करे ॥ ३ ॥

**यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं, स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ॥**
**अक्लेशेन शरीरस्य, कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥ ४ ॥**

( मनुस्मृति अध्या० ४। श्लो० ३ )

अर्थ—ब्राह्मण को उचित है कि–शास्त्र के अनुकूल प्राणों के निर्वाहार्थ वा कुटुम्बपोषण और नित्य नैमित्तिक आदि कर्मों के अनुष्ठान मात्र के लिये अपने शास्त्रोक्त कर्मों से तथा शरीर को अधिक क्लेश न दे कर धन का सञ्चय ( सङ्ग्रह ) करे ॥ ४ ॥

**ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु, मृतेन प्रमृतेन वा ॥**
**सत्यानृताभ्यामपि वा, न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ५ ॥**

( मनु० अध्या० ४। श्लो० ४ )

अर्थ—ब्राह्मण का कर्तव्य है कि–वह ऋत[3] और अमृत, वा मृत और प्रमृत, अथवा सत्य और अनृत रूप जीविका से अपने जीवन का निर्वाह करे; परन्तु श्ववृत्ति ( कुत्ते की जीविका ) से कदापि अपने जीवन का निर्वाह न करे ॥ ५ ॥

**ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयं, ममृतं स्यादयाचितम् ॥**
**मृतं तु याचितं भैक्ष्यं, प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ६ ॥**

---

१–यहां से आगे जो कर्म ब्राह्मणों के हैं उन्हें भी ब्राह्मणों की जीविकारूप जानना चाहिये ॥

२–क्योंकि आपत्तिसमय में दूसरे नियम कहे गये हैं ॥

३–ऋत आदि जीविकाओं का स्वरूप अगले श्लोकों में कहा गया है ॥

**सत्यानृतं तु वाणिज्यं, तेन चैवापि जीव्यते ॥**
**सेवा श्ववृत्तिराख्याता, तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ ७ ॥**

(मनु० अध्या० ४। श्लो० ५–६)

अर्थ—उञ्छ[1] और शिल[2] वृत्ति को ऋत कहते हैं, अयाचित (न मांगने की) वृत्ति को अमृत कहते है, याचित वृत्ति (मांगी हुई भिक्षा) को मृत कहते हैं[3] तथा कर्षण (खेती) को प्रमृत कहते है; यह जानना चाहिये ॥ ६ ॥

वाणिज्य वृत्ति को सत्यानृत कहते हैं; इस लिये ऋत आदि वृत्तियों के न होने पर उस (प्रमृत) वृत्ति से भी जीवन निर्वाह कर ले परन्तु सेवा को श्ववृत्ति (कुत्ते की वृत्ति) कहा है; इस लिये उस का त्याग कर दे अर्थात् ब्राह्मण को चाहिये कि-अपने प्राणों के रक्षण के लिये भी श्ववृत्ति का ग्रहण न करे ॥७॥

**कुशूलधान्यको वा स्यात्, कुम्भीधान्यक एव वा ॥**
**त्र्यहैहिको वापि भवे, दश्वस्तनिक एव वा ॥ ८ ॥**

(मनु० अध्या० ४। श्लो० ७)

अर्थ—ब्राह्मण का कर्तव्य है कि-वह या तो कुशूलधान्यक हो अर्थात् कुठिले मात्र में धान्य (अन्न) का संचय करने वाला हो; अथवा कुम्भीधान्यक हो अर्थात् घड़े भर अन्न का संग्रह

---

१–मण्डी में गिरे हुए अन्न के चुगने (बटोरने) को उञ्छ कहते है ॥

२–खेतों में पड़ी हुई बालो के चुगने (बटोरने) को शिल कहते है ॥

३–किसी कवि ने सत्य ही कहा है–"नून याच्ञा हि लोकेऽस्मिन्, मरणादतिरिच्यते" अर्थात् इस ससार में मागना मरण से भी अधिक दुःखदायक है ॥

करने वाला हो; अथवा त्र्यैहिक हो अर्थात् केवल तीन दिन के निर्वाह मात्र के लिये पदार्थों का संग्रह करने वाला हो; वा अश्वस्तनिक हो अर्थात् दूसरे दिन के लिये भी पदार्थों को न रखने वाला हो ॥ ८ ॥

**चतुर्णामपि चैतेषां, द्विजानां गृहमेधिनाम् ॥**
**ज्यायान् परः परो ज्ञेयो, धर्मतो लोकजित्तमः ॥ ९ ॥**

(मनु० अध्या० ४। श्लो० ८)

अर्थ—इन चारों गृहस्थ ब्राह्मणों में पहिले २ की अपेक्षा उत्तर २ का श्रेष्ठ है[1]; क्योंकि पूर्व २ की अपेक्षा उत्तर २ (पर २) का ब्राह्मण धर्म के द्वारा सम्पूर्ण लोकों का जीतने वाला माना जाता है[2] ॥ ९ ॥

**ब्राह्मणेषु च विद्वांसो, विद्वत्सु कृतबुद्धयः ॥**
**कृतबुद्धिषु कर्तारः, कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ १० ॥**

(मनु० अ० १। श्लो० ९७)

अर्थ—ब्राह्मणों में वे ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं जो कि-विद्वान् हैं, विद्वा-

---

१—तात्पर्य यह है कि—कुशूलधान्यक की अपेक्षा कुम्भीधान्यक श्रेष्ठ है, कुम्भीधान्यक की अपेक्षा त्र्यैहिक श्रेष्ठ है तथा त्र्यैहिक की अपेक्षा भी अश्वस्तनिक श्रेष्ठ है ॥

२—तात्पर्य यह है कि—जिस ब्राह्मण के यहां जितना ही संग्रह कम है उतना ही वह अन्यों (अधिक संग्रह वालों) की अपेक्षा श्रेष्ठ है, तथा वही अन्यों की अपेक्षा धर्म के द्वारा लोकों को अधिक जीतने वाला है, वास्तव में यह बात तब ही हो सकती है जब कि—मनु जी के लेखानुसार गुण कर्म और स्वभाव से युक्त तो ब्राह्मण हों तथा उन की जीविका का भार क्षत्रिय और वैश्यों पर रहे, ऐसी दशा में ब्राह्मणों को संचय करने की कोई आवश्यकता ही नहीं हो सकती है ॥

नों में भी वे श्रेष्ठ हैं जिन की वेदोक्त कार्यों में बुद्धि है, वेदोक्त कार्यों में बुद्धि रखने वालों में भी वे श्रेष्ठ है जो कि–वेदोक्त कार्यों के करने वाले है तथा वेदोक्त कार्यों के करने वालों में भी वे ( ब्राह्मण ) श्रेष्ठ हे जो कि–ब्रह्मज्ञ ( ब्रह्मज्ञानी ) है ॥ १० ॥

ऊपर संक्षेपतया ब्राह्मणों के धर्म कहे गये है; इन के धर्मों के विषय में यदि विशेष देखना हो तो मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रो को देखना चाहिये ॥

## क्षत्रियधर्म ॥

पहिले जो क्षत्रियों के लक्षण कह चुके है–यद्यपि उन में क्षत्रियो के धर्म भी अधिकांश में मिश्रित है तथापि उन के अतिरिक्त संक्षेपतया यहां पर क्षत्रियों के धर्मों ( कर्तव्यों ) का उल्लेख किया जाता है।

क्षत्रियों के धर्म के विषय में मनु भगवान् ने कहा है कि:—

**प्रजानां रक्षणं दान,मिज्याध्ययनमेव च ॥**
**विषयेष्वप्रसक्तिश्च, क्षत्रियस्य समासतः ॥ १ ॥**

( मनुस्मृति अ० १। श्लो० ८९ )

अर्थ—प्रजाओ की रक्षा करना अर्थात् नीति के अनुसार प्रजाओं का सर्व प्रकार से पुत्रवत् यथार्थ पालन करना, दान करना अर्थात् सुपात्रों को यथाशक्ति अन्न और वस्त्र आदि का देना, यज्ञ करना अर्थात् अग्निहोत्रादि नैत्यिक और नैमित्तिक यज्ञों का करना, अध्ययन करना अर्थात् दीर्घ काल तक ब्रह्मचर्य का सेवन कर अङ्गो के सहित वेदो और धर्मशास्त्रों का पढ़ना तथा विषयो में आसक्ति न रखना अर्थात् शिकार; जुआ; मद्यपान और स्त्रीभोग आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहना, ये संक्षेप से क्षत्रिय के धर्म है ॥ १ ॥

इसी प्रकार श्री कृष्ण भगवान् ने कहा है कि:—

**शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं, युद्धे चाप्यपलायनम् ॥**
**दानमीश्वरभावश्च, क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ २ ॥**

(गीता अध्या० १८ श्लो० ४३)

अर्थ—शूरता (शस्त्र और संग्राम आदि से न डरना), तेज (किसी के सामने दीन वा डरपोक न होना अर्थात् संग्राम आदि में प्रतापयुक्त रहना), धृति (चाहे जितना क्लेश वा सङ्कट प्राप्त हो तो भी धीरजयुक्त रहना अर्थात् घबराना नहीं), दक्षता (संग्राम; वाग्युद्ध, दूतकार्य; न्याय और विचार आदि में चतुर और बुद्धिमान् होना), युद्ध में से न भागना (युद्ध में सदा प्रवृत्त रहना अर्थात् वैरी से डर कर न भागना), दान देना (सुपात्रों को यथायोग्य अन्न वस्त्रादि पदार्थों का देना तथा विद्या और धर्म के प्रचार करने वाले उत्तम धार्मिक ब्राह्मणों को भूमि तथा रत्न आदि पदार्थों का देना) तथा ईश्वरभाव (जैसे परमात्मा सब के ऊपर दया रखता है तथा पक्षपात को छोड कर पिता के समान धर्म और अधर्म करने वालों को यथायोग्य सुख और दुःखरूप फल देता है और अपने सर्वज्ञत्वादि प्रभावों से सब का अन्तर्यामी हो कर सब प्राणियों के भले और बुरे कर्मों को देखता है उसी प्रकार क्षत्रिय राजा का यह कर्तव्य है कि-वह अपने गुप्त दूतों के द्वारा प्रजा तथा राजसम्बन्धी पुरुषों के अच्छे वा बुरे कर्मों को यथायोग्य जाने तथा पक्षपात को छोड़ कर न्याय के द्वारा यथायोग्य दुराचारियों को दण्ड और क्लेश दे तथा प्रजा या राजपुरुषों में जो उत्तम धार्मिक पुरुष है उन की यथायोग्य उन्नति करे), ये सब क्षत्रियों के स्वाभाविक (स्वभावसिद्ध) कर्म हैं[1] ॥२॥

---

१–शस्त्र और अस्त्र की विद्या का पढ़ाना, न्यायालय तथा सेना में नौकरी करना इत्यादि क्षत्रियों की जीविकायें है ॥

ये क्षत्रियों के धर्म संक्षेपतया कहे गये हैं; विशेष द्रष्टव्य हो तो मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों को देखना चाहिये ॥

## वैश्यधर्म ॥

वैश्यों के धर्म भी यद्यपि पूर्व कहे हुए उन के लक्षणों में संघटित हो चुके हैं तथापि संक्षेपतया इस विषय का यहां पर निदर्शन किया जाता है।

वैश्यधर्म के विषय में मनु जी कहते हैं कि:—

**पशूनां रक्षणं दान,मिज्याध्ययनमेव च ॥**
**वणिक्पथं कुसीदं च, वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ १ ॥**

(मनु० अध्या० १। श्लो० ९०)

अर्थ—पशुओं की रक्षा करना अर्थात् गौ और अश्व आदि उपकारी पशुओं का पालन करना तथा पालन करने से वृद्धि को प्राप्त हुए बैल और घोड़े आदि का विक्रय करना, दान देना अर्थात् सुपात्रों को सर्वदा यथाशक्ति अन्न और वस्त्र आदि का देना, यज्ञ करना अर्थात् अग्निहोत्रादि यज्ञों का विधिपूर्वक करना, अध्ययन करना अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक वेद और धर्मशास्त्रों का पढ़ना, वणिक्पथ अर्थात् अनेक देशों की वस्तुओं को स्वदेश में लाना तथा स्वदेश की चीजों को परदेश में भेजना और उन को यथासमय (समय आने पर) बेंचना, कुसीद अर्थात् शास्त्रोक्त नियमित व्याज लेना तथा कृषि करना अर्थात् भूमि का उत्तम प्रकार से परिष्कार[१] कर खेती करना, ये सब वैश्य के कर्म हैं[२] ॥१॥

---

१—परिष्कार अर्थात् शुद्धि ॥

२—वैश्य के—ऊपर जो सात कर्म कहे गये हैं उन में से अध्ययन करना, यज्ञ करना तथा दान देना, ये तीन कर्म धर्मस्वरूप हैं, शेष चार कर्म (पशुओं की रक्षा करना, वणिक्पथ, कुसीद तथा कृषि करना) जीविकास्वरूप हैं ॥

**वैश्यस्तु कृतसंस्कारः, कृत्वा दारपरिग्रहम् ॥**
**वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्, पशूना चैव रक्षणे ॥ २ ॥**

(मनु० अ० ९। श्लो० ३२६)

अर्थ—उपनयन आदि सस्कारों से युक्त वैश्य विवाह करके वार्ता अर्थात् व्यापार में तथा पशुपालन में सदा युक्त रहे ॥ २ ॥

**न च वैश्यस्य कामः स्या,न्न रक्षेयं पशूनिति ॥**
**वैश्ये चेच्छति नान्येन, रक्षितव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥**

(मनु० अ० ९। श्लो० ३२८)

अर्थ—मैं पशुओ की रक्षा न करूँ; ऐसी इच्छा वैश्यों की नही होनी चाहिये तथा वैश्य के चाहते हुए दूसरे को पशुपालन वृत्ति नहीं करनी चाहिये ॥ ३ ॥

**मणिमुक्ताप्रवालानां, लोहानां तान्तवस्य च ॥**
**गन्धाना च रसानां च, विद्यादर्घबलाबलम् ॥ ४ ॥**

(मनु० अ० ९। श्लो० ३२९)

अर्थ—मणि; मोती; मूगा; लोहा; कपड़ा; कर्पूर आदि गन्ध तथा लवण और गुड आदि रसो के बढ़ने और घटने के भाव को वैश्य को जानना चाहिये ॥ ४ ॥

---

१—यहा से आगे भी वैश्यो की जीविका का ही विस्तारपूर्वक वर्णन है ॥

२—सत्य ही कहा गया है कि "प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून्" अर्थात् ब्रह्मा ने पशुओं को उत्पन्न कर रक्षा के लिये वैश्य को दे दिये, अतएव ब्रह्मा की आज्ञानुसार वैश्यों को उचित है कि—वे समयानुसार घास और जलादि पदार्थों से पशुओं का यथावत् पालन करें ॥

**वीजानामुप्तिविच्च स्यात्, क्षेत्रदोषगुणस्य च॥**
**मानयोगञ्च जानीयात्, तुलायोगाँश्च सर्वशः ॥ ५ ॥**

(मनु० अ० ९। श्लो० ३३०)

अर्थ—वैश्य को उचित है कि—वह वीजों के बोने की विधि को, खेत के गुण और दोषों को तथा सब प्रकार के माप और तौल के योगों को जाने ॥ ५ ॥

**सारासारञ्च भाण्डानां, देशानाञ्च गुणागुणान् ॥**
**लाभालाभञ्च पण्यानां, पशूनां परिवर्धनम् ॥ ६ ॥**

(मनु० अ० ९। श्लो० ३३१)

अर्थ—वैश्य का कर्तव्य है कि—वह गल्ले के सार और असार को (भले बुरे के हाल को), देशों के गुणो और अवगुणो को (सस्ते मन्दे आदि के वृत्त को), विक्री के लाभ और हानि को तथा पशुओं की वृद्धि के उपाय को जाने ॥ ६ ॥

**भृत्यानां च भृतिं विद्याद्, भाषाश्च विविधा नृणाम् ॥**
**द्रव्याणां स्थानयोगाँश्च, क्रयविक्रयमेव च ॥ ७ ॥**

(मनु० अ० ९। श्लो० ३३२)

अर्थ—भृत्यों (नौकरो) की मजूरी, मनुष्यो की अनेक प्रकार की भाषायें, पदार्थों को यथास्थान रखने की विधि तथा सब पदार्थों के खरीदने और वेंचने की रीति, इत्यादि वातों को वैश्य को जानना चाहिये ॥ ७ ॥

**धर्मेण च द्रव्यवृद्धा, वातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥**
**दद्याच्च सर्वभूताना, मन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ८ ॥**

(मनुस्मृति अध्या० ९। श्लो० ३३३)

अर्थ—वैश्य को उचित है कि—वह धर्म से धन के वढ़ाने का

पूर्ण यत्न करे तथा धर्म से समृद्धि को प्राप्त हो कर सब प्राणियों को यत्न से अन्न का प्रदान करें ॥ ८ ॥

वैश्यों के उक्त धर्म संक्षेप से कह दिये गये है; विशेष विस्तार देखना हो तो मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में देख लेना चाहिये ॥

## शूद्रधर्म ॥

पहिले जो शूद्रों के लक्षण कहे है उन में यद्यपि यथायोग्य शूद्रों के धर्म भी मिश्रित हैं तथापि यहा पर संक्षेप से शूद्रों के धर्म को कहते है ।

शूद्रधर्म के विषय में मनु भगवान् कहते है कि:—

**एकमेव हि शूद्रस्य, प्रभुः कर्म समादिशत् ॥**
**एतेषामेव वर्णाना, शुश्रूषामनसूयया ॥ १ ॥**

( मनुस्मृति अ० १। श्लो० ९१ )

अर्थ—प्रभु अर्थात् परमेश्वर ने ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की सेवा असूया ( निन्दा ) से रहित होकर करना; यही एक शूद्र का कार्य कहा है ॥ १ ॥

---

१–तात्पर्य यह है कि–धर्म के द्वारा जब वैश्य समृद्धि को प्राप्त हो जावे तब उसे–पौ लगाना, तालाब बावड़ी और कुए आदि जलस्थानों का बनवाना, गोशाला का बनवाना, गौओं को घास गिरवाना, सब प्राणियों के हित के लिये धर्मशाला आदि मकानों का बनवाना, बाग लगवाना, विद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों को अन्न वस्त्र और पुस्तक आदि का देना, हरिद्वार प्रयाग और काशी आदि उत्तम स्थानों में अन्न के क्षेत्र लगाना तथा सुपात्रों को दान देना, इत्यादि कार्य करने चाहियें क्योंकि–ये ही कार्य इस लोक में यश, आयु और ऐश्वर्य के बढाने वाले तथा परलोक में उत्तम गति के देने वाले वैश्य के लिये माने गये हैं ॥

**वीजानामुप्तिविच्च स्यात्, क्षेत्रदोषगुणस्य च॥**
**मानयोगञ्च जानीयात्, तुलायोगाँश्च सर्वशः ॥ ५ ॥**

( मनु० अ० ९। श्लो० ३३० )

अर्थ—वैश्य को उचित है कि–वह वीजों के वोने की विधि को, खेत के गुण और दोषों को तथा सब प्रकार के माप और तौल के योगों को जाने ॥ ५ ॥

**सारासारञ्च भाण्डानां, देशानाञ्च गुणागुणान् ॥**
**लाभालाभञ्च पण्यानां, पशूनां परिवर्धनम् ॥ ६ ॥**

( मनु० अ० ९। श्लो० ३३१ )

अर्थ—वैश्य का कर्तव्य है कि–वह गल्ले के सार और असार को ( भले बुरे के हाल को ), देशों के गुणों और अवगुणों को ( सस्ते मन्दे आदि के वृत्त को ), विक्री के लाभ और हानि को तथा पशुओं की वृद्धि के उपाय को जाने ॥ ६ ॥

**भृत्यानां च भृतिं विद्याद्, भाषाश्च विविधा नृणाम् ॥**
**द्रव्याणां स्थानयोगाँश्च, क्रयविक्रयमेव च ॥ ७ ॥**

( मनु० अ० ९। श्लो० ३३२ )

अर्थ—भृत्यो ( नौकरों ) की मजूरी, मनुष्यों की अनेक प्रकार की भाषायें, पदार्थों को यथास्थान रखने की विधि तथा सब पदार्थों के खरीदने और वेचने की रीति, इत्यादि वातों को वैश्य को जानना चाहिये ॥ ७ ॥

**धर्मेण च द्रव्यवृद्धा, वातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥**
**दद्याच्च सर्वभूताना, मन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ८ ॥**

( मनुस्मृति अध्या० ९। श्लो० ३३३ )

अर्थ—वैश्य को उचित है कि–वह धर्म से धन के बढ़ाने का

पूर्ण यत्न करे तथा धर्म से समृद्धि को प्राप्त हो कर सब प्राणियों को यत्न से अन्न का प्रदान करें[१] ॥ ८ ॥

वैश्यों के उक्त धर्म संक्षेप से कह दिये गये हैं; विशेष विस्तार देखना हो तो मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में देख लेना चाहिये ॥

## शूद्रधर्म ॥

पहिले जो शूद्रों के लक्षण कहे हैं उन में यद्यपि यथायोग्य शूद्रों के धर्म भी मिश्रित है तथापि यहां पर संक्षेप से शूद्रों के धर्म को कहते हैं।

शूद्रधर्म के विषय में मनु भगवान् कहते हैं किः—

**एकमेव हि शूद्रस्य, प्रभुः कर्म समादिशत् ॥**
**एतेषामेव वर्णाना, शुश्रूषामनसूयया ॥ १ ॥**

(मनुस्मृति अ० १। श्लो० ९१)

**अर्थ**—प्रभु अर्थात् परमेश्वर ने ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की सेवा असूया (निन्दा) से रहित होकर करना, यही एक शूद्र का कार्य कहा है ॥ १ ॥

---

१—तात्पर्य यह है कि—धर्म के द्वारा जब वैश्य समृद्धि को प्राप्त हो जावे तब उसे—पौ लगाना, तालाब बावडी और कुए आदि जलस्थानों का बनवाना, गोशाला का बनवाना, गौओं को घास गिरवाना, सब प्राणियों के हित के लिये धर्मशाला आदि मकानों का बनवाना, बाग लगवाना, विद्यालयो में पढ़ने वाले विद्यार्थियो को अन्न वस्त्र और पुस्तक आदि का देना, हरिद्वार प्रयाग और काशी आदि उत्तम स्थानों में अन्न के क्षेत्र लगाना तथा सुपात्रों को दान देना, इत्यादि कार्य करने चाहियें क्योंकि—ये ही कार्य इस लोक में यश, आयु और ऐश्वर्य के बढ़ाने वाले तथा परलोक में उत्तम गति के देने वाले वैश्य के लिये माने गये हैं ॥

इसी प्रकार गीता में भी कहा है किः—

**परिचर्यात्मकं कर्म, शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ २ ॥**

( गीता अ० १८। श्लो० ४४ )

अर्थ—हे अर्जुन ! शूद्र का स्वाभाविक कर्म यही है कि-वह सेवा करे ॥ २ ॥

यह संक्षेप से शूद्र का धर्म कह दिया गया है; इस का विशेष विस्तार मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में देखना चाहिये ॥

यह प्रथम अध्याय का वर्णधर्म वर्णन नामक तीसरा
प्रकरण समाप्त हुआ ॥

इति श्री स्वामि ब्रह्मानन्दगिरिनिर्मिते वर्णाश्रम-
धर्मप्रकाशे प्रथमोऽध्यायः ॥



# द्वितीय अध्याय ॥

## प्रथम प्रकरण—आश्रमव्यवस्थावर्णन ॥

### आश्रमव्यवस्थाविचार ॥

जिस प्रकार सृष्ट्युत्पत्ति के पश्चात् उक्त ब्राह्मण आदि चारों वर्णों की व्यवस्था की गई थी उसी प्रकार से ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों की भी व्यवस्था की गई थी, इस व्यवस्था का प्रयोजन केवल यही है कि–द्विजाति जन अपनी सम्पूर्ण आयु को चार भागों में विभक्त कर प्रत्येक भाग में कहे हुए कर्तव्यविशेष का अनुष्ठान कर नियमानुसार अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से अपनी जीवनयात्रा को समाप्त करें तथा स्वकर्तव्य के परिपालन से लौकिक सुखों को प्राप्त हों।

ऊपर कह चुके हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति के पश्चात् चार वर्णों के समान चार आश्रमों का भी विभाग किया गया था, इस विषय में आपस्तम्ब ऋषि का कथन है कि—"चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थमिति" अर्थात् गार्हस्थ्य ( गृहाश्रम ), आचार्यकुल ( ब्रह्मचर्याश्रम ), मौन ( संन्यासाश्रम ) तथा वानप्रस्थ ( वानप्रस्थाश्रम ), ये चार आश्रम हैं।

इसी प्रकार वशिष्ठ जी का कथन है कि—"चत्वार आश्रमा ब्रह्मचारि गृहस्थ वानप्रस्थ परिव्राजका इति" अर्थात् ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक ( सन्यासी ), ये चार आश्रम हैं।

अब आगे उक्त चारों आश्रमों के कर्मों तथा उन की अवधि आदि का वर्णन यथायोग्य किया जावेगा, आश्रमियों को उचित है कि–वे उसी के अनुसार सर्वदा वर्ताव कर मनुष्यजन्म के

चारों फलों को प्राप्त हो तथा स्वकर्मों के द्वारा यथायोग्य प्राणिमात्र का कल्याण करें; क्योंकि—यह मनुष्यशरीर महाकठिनता से प्राप्त होता है ॥

## आश्रम लक्षण विचार ॥

पहिले कह चुके हैं कि—"जिस प्रकार सृष्ट्युत्पत्ति के पश्चात् ब्राह्मण आदि चारों वर्णों की व्यवस्था की गई थी उसी प्रकार से ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों की भी व्यवस्था की गई थी, इस व्यवस्था का प्रयोजन केवल यही है कि द्विजाति जन अपनी सम्पूर्ण आयु को चार भागों में विभक्त कर प्रत्येक भाग में कहे हुए कर्त्तव्यविशेष का अनुष्ठान कर नियमानुसार अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से अपनी जीवनयात्रा को समाप्त करें तथा स्वकर्त्तव्य के परिपालन से लौकिक और पारलौकिक सुखों को प्राप्त हों" उक्त कथन का तात्पर्य यही है कि–जीवनकाल के चार भाग कर प्रत्येक भाग में शास्त्रोक्त स्वकर्त्तव्य के अनुष्ठान के द्वारा जो विशेष लक्षण वा नियम का धारण करना है वही क्रम से ब्रह्मचर्य आदि आश्रम हैं, इस विषय का वर्णन यद्यपि आगे चल कर (चारों आश्रमों के वर्णन में) प्रसंगानुसार किया जावेगा तथापि प्राचीन ग्रन्थानुसार संक्षेपतया यहाँ भी कुछ वर्णन किया जाता है।

ब्रह्मचर्याश्रम के स्वरूप के विषय में योगयाज्ञवल्क्य में कहा गया है कि:—

**कर्मणा सतताचारात् सर्वावस्थासु सर्वदा ॥**
**सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥ १ ॥**

(योगयाज्ञवल्क्य ५४)

अर्थ—अपने कर्म के अनुष्ठान (विद्याभ्यासादि के विधान)

के द्वारा निरन्तर सदाचार का पालन कर सब अवस्थाओं में सर्वदा और सर्वत्र जो मैथुन का त्याग करना है उस को ब्रह्मचर्य कहते है ॥ १ ॥

इसी प्रकार महाभारत में भी कहा गया है कि—

**लिङ्गसंयोगहीनं यच्छब्दस्पर्शविवर्जितम् ॥**
**श्रोत्रेण श्रवणं चैव, चक्षुषा चैव दर्शनम् ॥ २ ॥**

**वाक्सम्भाषा प्रवृत्तं यत्तन्मनः परिवर्जितम् ॥**
**बुद्ध्या चाध्यवसीयीत, ब्रह्मचर्यमकल्पयम् ॥ ३ ॥**

अर्थ—गुह्येन्द्रिय का गुह्येन्द्रिय से स्पर्श तो क्या किन्तु निमित्त के विना हस्तादि से भी स्पर्श का न होना, विषय-सम्बंधी बुरी बातों का श्रवण न होना, ब्रह्मचर्यव्रतनाशक स्त्री आदि पदार्थों का चक्षु से न देखना, वाणी से विषयसम्बधी बातों का न करना, मन से विषयसम्बधी बातो का न विचारना तथा प्रथम बुद्धि से विचार कर प्रत्येक कार्य का करना अथवा बुद्धि से अर्थ को विचार कर जो अध्ययन करना है उस को ब्रह्मचर्य कहते हैं ॥ २ ॥ ३ ॥

इस आश्रम का विशेष स्वरूप आगे वर्णित ब्रह्मचर्याश्रम के कर्त्तव्य से विदित हो सकता है ।

गृहस्थाश्रम के स्वरूप के विषय में यह समझना चाहिये कि—ब्रह्मचर्याश्रम से निवृत्त हो कर समावर्त्तन संस्कार कर शास्त्रसम्मत धन का उपार्जन कर अपने अनुकूल तथा शुभ लक्षणों से युक्त कन्या के साथ जो विवाह करना है उस को गृहस्थाश्रम कहते हैं, तात्पर्य यह है कि—विवाह का करना ही गृहस्थाश्रमरूप है, क्योंकि कहा है कि—"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते" अर्थात् वास्तव में गृह को गृह नहीं कहते हैं किन्तु

गृहिणी ( विवाहिता स्त्री ) को गृह कहते हैं, इस आश्रम में निवास की क्यों आवश्यकता है, इस विषय में संक्षेप से आगे वर्णन किया जावेगा ।

गृहस्थाश्रम का शेष स्वरूप आगे वर्णित उस के कर्त्तव्यों के द्वारा विदित हो सकता है ।

वानप्रस्थाश्रम का स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये कि-सन्तान के उत्पन्न तथा समर्थ हो जाने पर सम्पूर्ण गृहसामग्री को पुत्र के आधीन कर वन आदि एकान्त स्थान में जा कर इन्द्रियों का दमन करना, मन की वृत्तियों का रोकना, शीतोष्णत्व आदि द्वन्द्वों का सहन कर तप की वृद्धि करना तथा ईश्वर के गुणों का अहर्निश श्रवण मनन और निदिध्यासन कर ब्रह्मप्राप्ति के उपायों का जो करना है उस को वानप्रस्थाश्रम कहते हैं, गृहस्थ से वानप्रस्थ होने की अवश्यकता का संक्षिप्त वर्णन आगे किया जावेगा ।

इस आश्रम का विशेष स्वरूप आगे कहे हुए वानप्रस्थ के कर्त्तव्यों से विदित हो सकता है ।

चौथे संन्यासाश्रम के स्वरूप के विषय में यह समझना चाहिये कि-वानप्रस्थाश्रम के नियमों का नियमित समय तक परिपालन कर आयु के अन्तिम भाग में सम्पूर्ण प्रपञ्चों से निवृत्त हो कर जो केवल ब्रह्माराधन कर उस को प्राप्त करना है उस को संन्यासाश्रम कहते हैं, इस आश्रम के विषय में कहा है कि:—

अधीत्य विधिवद्वेदान्, पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ॥
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ४ ॥

( मनु० अ० ६। श्लो० ३६ )

अर्थ—विधिपूर्वक वेदों को पढ़ कर धर्मपूर्वक पुत्रों को

उत्पन्न कर तथा यथाशक्ति (ज्योतिष्टोमादि) यज्ञों को कर के मोक्ष अर्थात् चतुर्थाश्रम (संन्यास) में मन को नियुक्त करे॥ ४॥

मनु भगवान् के इस कथन का तात्पर्य यही है जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं अर्थात् यथाविधि तीनों आश्रमों से निवृत्त हो कर मोक्ष अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति में मन के लगाने को संन्यासाश्रम कहते हैं।

इस आश्रम का भी विशेष स्वरूप आगे वर्णित इस आश्रम के कर्त्तव्यों के द्वारा ज्ञात हो सकता है।

यह अति संक्षेप से चारो आश्रमों के लक्षण वा स्वरूप का वर्णन किया गया है, इस विषय का विस्तार मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में देख लेना चाहिये ॥

---

## द्वितीय प्रकरण—आश्रमधर्मवर्णन ॥

### आश्रमधर्मविचार ॥

पहिले कह चुके है कि—"जिस प्रकार सृष्टयुत्पत्ति के पश्चात् ब्राह्मण आदि चारों वर्णों की व्यवस्था की गई थी उसी प्रकार से ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों की भी व्यवस्था की गई थी, इस व्यवस्था का प्रयोजन केवल यही है कि—द्विजाति जन अपनी सम्पूर्ण आयु को चार भागों में विभक्त कर प्रत्येक भाग में कहे हुए कर्त्तव्यविशेष का अनुष्ठान कर नियमानुसार अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से अपनी जीवनयात्रा को समाप्त करें तथा स्वकर्त्तव्य के परिपालन से लौकिक और पारलौकिक सुखों को प्राप्त हों" उक्त कथन का तात्पर्य केवल यही है कि—प्रथम तो मनुष्यजन्म ही बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है उस में भी द्विजाति होना अति दुर्लभ है, क्योंकि—अनेक तपश्चर्या आदि विधानों से द्विजत्व की

इस विषय में आश्वलायन ऋषि ने गृह्यसूत्र में कहा है कि:—

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत् ॥ १ ॥ गर्भाष्टमे वा ॥ २ ॥ एकादशे क्षत्रियम् ॥ ३ ॥ द्वादशे वैश्यम् ॥ ४ ॥ आषोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः ॥ ५ ॥ आद्वाविंशात् क्षत्रियस्य ॥ ६ ॥ आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य ॥ ७ ॥ अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥ ८ ॥

अर्थ—आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन संस्कार (यज्ञोपवीत संस्कार) करे ॥ १ ॥ अथवा गर्भ से (जिस दिन गर्भ रहा हो उस दिन से) आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करे ॥ २ ॥ ग्यारहवें वर्ष में (जिस दिन जन्म हुआ हो वा जिस दिन गर्भ रहा हो उस दिन से ग्यारहवें वर्ष में) क्षत्रिय के बालक का उपनयन संस्कार करे ॥ ३ ॥ बारहवें वर्ष में (गर्भ के दिन से वा जन्म के दिन से बारहवें वर्ष में) वैश्य के बालक का उपनयन संस्कार करे ॥ ४ ॥ सोलह वर्ष तक ब्राह्मण के बालक के उपनयन संस्कार का समय नहीं जाता है ॥ ५ ॥ बाईस वर्ष तक क्षत्रिय के बालक के उपनयन संस्कार का समय नहीं जाता है ॥ ६ ॥ चौबीस वर्ष तक वैश्य के बालक के उपनयन संस्कार का समय नहीं जाता है ॥ ७ ॥ इस के पश्चात् उक्त ब्राह्मणादि तीनो वर्ण पतितसावित्रीक हो जाते हैं अर्थात् उपनयन सस्कार और गायत्री के उपदेश के योग्य नही रहते है ॥ ८ ॥

इसी प्रकार मनुस्मृति में कहा गया है कि:—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत, ब्राह्मणस्योपनायनम् ॥
गर्भादेकादशे राज्ञो, गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ९ ॥

(मनु० अध्या० २। श्लो० ३६)

अर्थ—गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का, गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का, तथा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य का उपनयन संस्कार कर देना चाहिये ॥ ९ ॥

**ब्रह्मवर्चसकामस्य, कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ॥**
**राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे, वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ १० ॥**

(मनु० अध्या० २। श्लो० ३७)

अर्थ—ब्रह्मवर्चस[1] की इच्छा करने वाले ब्राह्मण के बालक का पाँचवें वर्ष में, बल की इच्छा रखने वाले क्षत्रिय के बालक का छठे वर्ष में, तथा व्यापारादि कार्यों की इच्छा रखने वाले वैश्य के बालक का आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार कर देना चाहिये[2] ॥ १० ॥

**आषोडशाद्ब्राह्मणस्य, सावित्री नातिवर्त्तते ॥**
**आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धो, राचतुर्विंशतेर्विशः ॥ ११ ॥**

(मनु० अध्या० २। श्लो० ३८)

अर्थ—सोलह वर्ष तक ब्राह्मण के लिये, बाईस वर्ष तक क्षत्रिय के लिये तथा चौबीस वर्ष[3] तक वैश्य के लिये गायत्री के उपदेश का समय नहीं जाता है ॥ ११ ॥

---

१—वेदाध्ययन के लिये ज्ञान आदि से वृद्धि को प्राप्त हुए तेज को ब्रह्मवर्चस कहते हैं ॥

२—यद्यपि ब्रह्मवर्चस, बल और व्यापारादि, क्रम से ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों के कर्त्तव्य ही हैं तथापि मनु भगवान् के कथन का यह तात्पर्य है कि—यदि ब्राह्मणादि वर्ण अपने २ शेष कर्त्तव्यों के विशेष अभिलाषी न हों किन्तु ब्रह्मवर्चस आदि मुख्य कर्त्तव्यों के ही अभिलाषी हों तो उन का क्रम से पाँचवें छठे और आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार कर देना चाहिये ॥

३—तात्पर्य यह है कि—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उपनयन संस्कार की यह परम अवधि है ॥

**अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते, यथाकालमसंस्कृताः ॥**
**सावित्रीपतिता व्रात्या, भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥१२॥**

(मनु० अध्या० २। श्लो० ३९)

अर्थ—इस पूर्वोक्त अवधि के पश्चात् उक्त ब्राह्मण आदि तीनों वर्ण सावित्रीपतित (गायत्री के उपदेश के अयोग्य) हो जाते हैं तथा ठीक समय पर उपनयन संस्कार के न होने से इन की व्रात्य संज्ञा हो जाती है और ये (तीनों वर्ण) उत्तम पुरुषों से निन्दित हो जाते है ॥ १२ ॥

उक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि-ब्राह्मणादि तीनों वर्णों का उपनयन संस्कार ठीक समय पर अवश्य कर दिया जाना चाहिये।

उपनयन संस्कार के हो जाने के पश्चात् गृहस्थाश्रम; वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम के मूलरूप ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करना चाहिये अर्थात् उक्त ब्राह्मणादि तीनों वर्णों को उचित है कि-वे अपने २ बालकों का यथासमय उपनयन संस्कार करा के बालकों को आचार्यकुल में भेज कर वेदादि शास्त्रों को पढ़ावें, क्योंकि-जो द्विजाति जन अज्ञानवश हो कर अपने पुत्रों को ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या नहीं पढ़ाते हैं वे शोकरूपी समुद्र में डूब कर मूर्ख पुत्रों से सर्वदा दुःख पाते है और पश्चात्तापरूपी अग्नि से उन का शरीर सर्वदा दग्ध होता रहता है, देखो! नीतिशास्त्र में कहा भी है कि:—

---

१—इन अपवित्र व्रात्यों के साथ विद्यासम्बन्ध तथा योनिसम्बन्ध नहीं करना चाहिये अर्थात् उक्त अवधि तक जिन का उपनयन संस्कार न हुआ हो तथा उक्त दोष का जिन्हों ने प्रायश्चित्त न किया हो उन को न तो विद्या पढ़ानी चाहिये और न उन को अपनी कन्या देनी चाहिये किन्तु उन का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥

**अजातमृतमूर्खेभ्यो, मृताजातौ सुतौ वरम् ॥**
**यतस्तौ स्वल्पदुःखाय, यावज्जीवं जड़ो दहेत्॥१३॥**

(पञ्चतन्त्र कथामुख श्लो० ४)

अर्थ—जिस का जन्म नहीं हुआ है (अभिलषित पुत्र), जो उत्पन्न हो कर मर गया है तथा जो मूर्ख है, इन तीनो पुत्रों में से प्रथम के दो पुत्र (अजात और मृत) श्रेष्ठ हैं, क्योंकि—वे अल्प दुःख के देने वाले हैं परन्तु मूर्ख पुत्र तो जीवनपर्यन्त शरीर को जलाता है ॥ १३ ॥

देखो! जो पुत्र विद्यारूपी नेत्र से हीन होता है वह सत् और असत् तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को कदापि नहीं जान सकता है, वह अन्धे मनुष्य के समान होता है; क्योंकि—सत् और असत् तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य आदि का ज्ञान विद्या के विना कदापि नहीं होता है।

शास्त्रों में कहा है कि—विद्या से रहित मनुष्य का जन्म—काष्ठरचित हाथी, चर्मरचित सिंह, जलरहित कूप तथा पुरुषरहित नगर के समान है, अर्थात् जैसे—उक्त हाथी आदि गुणरहित होने से स्वकार्य को नहीं कर सकते हैं उसी प्रकार विद्या से रहित मनुष्य न तो अपना उपकार कर सकते हैं और न दूसरों को ही कुछ लाभ पहुंचा सकते हैं।

१—महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म जी ने कहा है कि—नास्ति विद्यासमं चक्षुः॥ अर्थात् विद्या के समान संसार में अन्य कोई भी नेत्र नहीं है॥

२—सत्य कहा गया है कि—शुनः पुच्छमिव व्यर्थं, जीवितं विद्यया विना ॥ न गुह्यगोपने शक्तं, न च दंशनिवारणे ॥ १ ॥ (चाणक्यनीतौ) अर्थात् विद्या से रहित मनुष्य का जीवन कुत्ते की पूँछ के समान व्यर्थ है जैसे कुत्ते की पूँछ न तो गुह्येन्द्रिय को ढाँक सकती है और न मच्छर आदि को ही दूर कर सकती है किन्तु व्यर्थरूप ही होती है॥

गया है,[1] तात्पर्य यह है कि- बालक को पाँच वर्ष की आयु तक माता के आधीन रहना चाहिये, आठ वर्ष की आयु तक पिता के आधीन रहना चाहिये; इस के पश्चात् आचार्य के आधीन रहना चाहिये; अर्थात् आठ वर्ष की आयु होने के पश्चात् यथायोग्य समय तक आचार्यकुल में रह कर अच्छे प्रकार से विद्याभ्यास करना चाहिये, जो इस क्रम से वर्ताव करता है वह विद्वान् हो कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को यथार्थ रीति से जानता है तथा यथाकाल उन ( धर्मादि ) का सम्पादन भी करता है ॥ १५ ॥

ब्रह्मचर्य के काल के विषय में मनु जी ने कहा है कि:-

**षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं, गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ॥**
**तदर्धिकं पादिकं वा, ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १६ ॥**

( मनु० अ० ३। श्लो० १ )

अर्थ—ब्रह्मचारी को उचित है कि- वह गुरुकुल में छत्तीस वर्ष तक निवास कर तीनों वेदों ( ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ) का अध्ययन करे, अथवा उक्त समय से आधे समय तक ( अठारह वर्ष तक ) निवास कर वेदाध्ययन करे, अथवा उक्त समय से भी आधे समय तक ( नौ वर्ष तक ) निवास कर वेदाध्ययन करे, अथवा जितने समय में वेदों के अभ्यास का ग्रहण अच्छे प्रकार से हो जावे उतने ही समय तक गुरुकुल में निवास कर वेदाध्ययन करे[2] ॥ १६ ॥

---

१-इसी प्रकार विष्णुस्मृति के ३१ वें अध्याय में कहा है कि- "त्रयः पुरुषस्यातिगुरवो भवन्ति माता पिता आचार्यश्च" अर्थात् मनुष्य के-माता, पिता और आचार्य, ये तीन मुख्य गुरु होते हैं, क्योंकि-बालक प्रथम माता से, पीछे पिता से और तत्पश्चात् आचार्य से शिक्षा को पाता है ॥

२-तात्पर्य यह है कि गुरुकुल में रह कर वेदाध्ययन करना द्विजाति का परम धर्म है, इस विषय में जितनी शक्ति हो उतना ही यत्न करना चाहिये ॥

**वेदानधीत्य वेदौ वा, वेदं वापि यथाक्रमम् ॥**
**अविप्लुतब्रह्मचर्यो, गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥ १७ ॥**
(मनु० अ० ३। श्लो० २)

अर्थ—क्रम से अर्थात् अङ्गो के सहित तीनों वेदो को (छत्तीस वर्ष में) पढ़ कर अथवा दो वेदों को (अठारह वर्ष में) पढ कर

---

१–इस में भी यह स्मरण रहना चाहिये कि–४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्यसेवन करना परमोत्तम माना गया है, ३६ वर्ष तक ब्रह्मचर्यसेवन करना उत्तम माना गया है, २४ वा १८ वर्ष तक ब्रह्मचर्यसेवन करना मध्यम माना गया है तथा इस से कम समय तक ब्रह्मचर्यसेवन अधम माना गया है, क्योंकि ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्यसेवन की प्रशंसा अनेक ग्रन्थों में की गई है, देखो ! गोपथ ब्राह्मण में कहा है कि–"**अष्टाचत्वारिंशद्वर्ष सर्ववेदब्रह्मचर्यम्** (गो० पू० प्र० २। ब्रा० ६) अर्थात् ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्यसेवन करना सम्पूर्ण वेदों के अध्ययन के लिये पर्याप्त है, इसी प्रकार आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा है कि–"**अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि ॥ १ ॥ पादूनम् ॥ २ ॥ अर्धेन ॥ ३ ॥** (आप० धर्मसू० प्र० १। प० १। ख० २) अर्थात् अड़तालीस वर्ष तक वा पादोन (३६) वर्ष तक अथवा अर्ध (२४) वर्ष तक ब्रह्मचर्यसेवन कर वेदाभ्यास करना चाहिये, तात्पर्य यह है कि–जहाँ तक हो सके मनुष्य को अच्छे प्रकार से अधिक समय तक ब्रह्मचर्यसेवन करना चाहिये, क्योंकि ब्रह्मचर्यसेवन ही सर्व सुखों का मुख्य कारण है, अत एव इस ब्रह्मचर्यसेवन की वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, वैद्यक शास्त्र, धर्मशास्त्र, महाभारत, उपनिषद्, योगशास्त्र तथा निरुक्त आदि अनेक ग्रन्थों में अत्यन्त ही प्रशंसा की है, वास्तव में यह बात निश्चित भी है कि इस (ब्रह्मचर्यसेवन) के ठीक रीति से पूर्ण होने से ही शेष तीनों आश्रम सुधर सकते है तथा मनुष्य को लौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति ठीक रीति से हो सकती है॥

अथवा एक वेद को ( नौ वर्ष में ) पढ़ कर ब्रह्मचर्य को समाप्त कर मनुष्य को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये ॥ १७ ॥

यह संक्षेप से ब्रह्मचर्याश्रम के विषय में कथन कर दिया गया है; इस का विशेष वर्णन देखना हो तो मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में देख लेना चाहिये ॥

## गृहस्थाश्रम ॥

आचार्यकुल में निवास कर अङ्गों के सहित वेदाध्ययन हो चुकने के पश्चात् ब्रह्मचारी पुरुष का अपने गृह में आ कर तथा विवाह कर नियमित समय तक स्वकर्त्तव्यपालनपूर्वक जो निवास करना है उस को गृहस्थाश्रम कहते हैं।

इस आश्रम में निवास का प्रयोजन केवल यही है कि–इस आश्रम में निवास कर मनुष्य इस लोक और पर लोक के सुख की प्राप्ति के साधनों का भली भांति उपार्जन कर सकता है, देखो! विवाह करें नियमानुसार सन्तान को उत्पन्न कर मनुष्य अपने कुल की वृद्धि कर सकता है, सन्तान को भी अपने ही समान नियमित आश्रमों में प्रविष्ट कर आश्रमधर्म की वृद्धि

---

१–देखो ! आपस्तम्ब धर्मसूत्र में लिखा है कि–विद्या समाप्य दारान् कृत्वाग्नीनाधाय कर्माण्यारभते सोमावराध्यानि यानि श्रूयन्ते" ( आप० धर्मसू० प्र० २। प० ९। ख० २२ ) अर्थात् सम्पूर्ण विद्या को समाप्त कर विवाह करके गृहकर्मार्थ अग्न्याधान करके सब उत्तमोत्तम गृहकर्मों को करे ॥

२–आचार्यकुल से वापिस आने के पश्चात् ( समावर्तन के पीछे ) ब्रह्मचारी पुरुष का विवाह किस प्रकार की कन्या के साथ होना चाहिये इस विषय को मनु आदि धर्मशास्त्रों में देख लेना चाहिये, हम ने इस विषय को ग्रन्थ के विस्तार के भय से नहीं लिखा है ॥

कर सकता है, सदाचार और न्यायपूर्वक धनादि पदार्थों का सग्रह कर अपने कुटुम्ब आदि के पोषण के सिवाय ब्रह्मचर्यादि शेष तीन आश्रमों को अन्न और वस्त्र आदि के द्वारा सहायता पहुंचा सकता है[1], धनादि सामग्री के प्रस्तुत होने से संसारवर्त्ती अनेक जीवों को यथायोग्य लाभ पहुंचा सकता है तथा प्रतिदिन पञ्च महायज्ञ और धनादिसामग्रीसम्पाद्य बड़े २ यज्ञों का अनुष्ठान कर परलोकसुख को प्राप्त हो सकता है, इत्यादि अनेक कारण और प्रयोजन इस आश्रम में निवास करने के हैं; जिन को ग्रन्थ के विस्तार के भय से नहीं लिखते हैं किन्तु इस आश्रम की उपयोगी जो अन्य बातें हैं उन का संक्षेप से वर्णन करते हैं।

गृहस्थाश्रम के विषय में मनु भगवान् कहते हैं किः—

**चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः ॥**
**द्वितीयमायुषो भागं, कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १ ॥**

(मनु० अ० ४। श्लो० १)

अर्थ—द्विजाति को उचित है कि-वह आयु के प्रथम चौथाई भाग तक (२५ वर्ष तक) गुरुकुल में निवास कर आयु के दूसरे चौथाई भाग तक (२६ वर्ष से ५० वर्ष तक) विवाह कर गृह में निवास करे ॥ १ ॥

विवाह के विषय में मनु जी का कथन यह है किः—

**गुरुणानुमतः स्नात्वा, समावृत्तो यथाविधि ॥**
**उद्वहेत द्विजो भार्यां, सवर्णां लक्षणान्वित्ताम् ॥ २ ॥**

(मनु० अ० ३। श्लो० ४)

अर्थ—द्विज को उचित है कि— वह (ब्रह्मचर्याश्रम को

---

१-शेष तीनों आश्रमों का मुख्य आधार गृहस्थाश्रम ही है क्योंकि-शेष तीनों ही आश्रम गृहस्थाश्रम के अवलम्ब से ही कायम रह सकते हैं ॥

समाप्त कर ) गुरु की आज्ञा से यथाविधि स्नान और समावर्तन करके शुभ लक्षणों से युक्त अपने वर्ण की स्त्री से विवाह करे[1] ॥२॥

गृहस्थ के कार्यों के विषय में मनुस्मृति में कहा है कि:—

**वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत, गृह्यं कर्म यथाविधि ॥**
**पञ्चयज्ञविधानञ्च, पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ ३ ॥**

( मनु० अ० ३। श्लो० ६७ )

अर्थ—गृहस्थ पुरुष को उचित है कि— वह यथाविधि ( विधिपूर्वक ) वैवाहिक ( विवाहसम्बन्धी ) अग्नि में गृह्योक्त कर्म ( सायंकाल तथा प्रातःकाल में हवनादि ) को करे, पञ्चमहायज्ञान्तर्गत बलिवैश्वदेवादि को करे तथा प्रतिदिन के पाक को भी ( उसी अग्नि में ) करे[3] ॥ ३ ॥

**पञ्च सूना गृहस्थस्य, चुल्ली पेषण्युपस्करः ॥**
**कण्डनी चोदकुम्भश्च, बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ ४ ॥**

( मनु० अ० ३। श्लो० ६८ )

अर्थ—गृहस्थ के गृह में पांच वस्तुयें हिंसामूलक ( हिंसा को पैदा करने वाली ) हैं— चूल्हा, चक्की, बुहारी, ऊखलीमूसल, और जल का घड़ा, इन वस्तुओं को अपने काम में लाता हुआ

---

१—विवाह के विषय में यह भी स्मरण रहे कि—ब्रह्मचारी पुरुष का विवाह समान गुण कर्म स्वभाव वाली तथा योग्य अवस्था वाली कन्या के साथ होना चाहिये, क्योंकि ऐसा न होने से गृहस्थाश्रम बिगड़ जाता है ॥

२—पञ्च महायज्ञों के स्वरूप का वर्णन आगे किया गया है ॥

३—तात्पर्य यह है कि अग्निसम्बन्धी जितने गृहस्थ के कार्य हैं उन सब को वैवाहिक अग्नि में ही गृहस्थ पुरुष को करना चाहिये ॥

गृहस्थ पाप से बँध जाता है अर्थात् नित्य गृहस्थ को ( इन वस्तुओं से ) जीवहिंसा लगती है[१] ॥ ४ ॥

**तासां क्रमेण सर्वासां, निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ॥**
**पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः, प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ५ ॥**

( मनुस्मृति अ० ३। श्लो० ६९ )

अर्थ—उक्त पाँचों हिंसाओं की शान्ति के लिये महर्षियों ने गृहस्थों के लिये प्रतिदिन पाँच महायज्ञों का करना कहा है॥५॥

**अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः, पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ॥**
**होमो दैवो बलिर्भौतो, नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ६ ॥**

( मनु० अ० ३। श्लो० ७० )

अर्थ—वे पाँचों महायज्ञ ये हैं—ब्रह्मयज्ञ अर्थात् पाठन के द्वारा वेदधर्म का प्रचार करना, पितृयज्ञ अर्थात् तर्पण करना, देवयज्ञ अर्थात् होम करना, भूतयज्ञ अर्थात् भूतबलि करना ( इन्द्र और यम आदि को भाग देना ) तथा नृयज्ञ अर्थात् अतिथि का सत्कार करना ॥ ६ ॥

**पञ्चैतान् यो महायज्ञान्, न हापयति शक्तितः ॥**
**स गृहेऽपि वसन् नित्यं, सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७ ॥**

( मनु० अ० ३। श्लो० ७१ )

अर्थ—जो पुरुष यथाशक्ति इन पाँच महायज्ञों का त्याग नहीं

---

१—तात्पर्य यह है कि—इन वस्तुओं के उपयोग के बिना गृहस्थ का काम नहीं चल सकता है और इन का उपयोग करने से कृमि कीट आदि क्षुद्र जन्तुओं का विघात हो जाता है इस लिये गृहस्थ पुरुष को उक्त पाँचों वस्तुओं के उपयोग से जीवहिंसाजन्य पाप अवश्य ही लगता है ॥

करता है वह पुरुष गृह में वास करता हुआ भी हिंसा के दोषों से लिप्त नहीं होता है ॥ ७ ॥

देवतातिथिभृत्यानां, पितृणामात्मनश्च यः ॥
न निर्वपति पञ्चाना, मुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ८ ॥

( मनुस्मृति अध्या० ३। श्लो० ७२ )

अर्थ—जो गृहस्थ पुरुष देवता, अतिथि, भृत्य ( नौकर ), माता, पिता आदि पोष्यवर्ग और आत्मा ( पुत्र कन्या वा स्त्री ), इन पाँचों का अन्न आदि से सत्कार नहीं करता है वह श्वास लेता हुआ भी नहीं जीता है अर्थात् जीता हुआ भी मृतक के समान है[1] ॥ ८ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्या,द्दैवे चैवेह कर्मणि ॥
दैवे कर्मणि युक्तो हि, बिभर्त्तीदं चराचरम् ॥ ९ ॥

( मनु० अध्या० ३। श्लो० ७५ )

अर्थ—गृहस्थ पुरुष को उचित है कि— वह वेदाध्ययन और अग्निहोत्र कर्म में सदा युक्त ( तत्पर ) रहे, क्योंकि जो पुरुष अग्निकर्म में युक्त रहता है वह इस चराचर जगत् का पोषण करता है ॥ ९ ॥

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्य, गादित्यमुपतिष्ठते ॥
आदित्याज्जायते वृष्टि र्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ १० ॥

( मनु० अध्या० ३। श्लो० ७६ )

अर्थ—देखो ! अग्नि में विधिपूर्वक डाली हुई आहुति आदित्य

---

१—नीतिशास्त्र में भी कहा है कि—"यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः सोऽत्र जीवति" अर्थात् जिस के जीवन से इस संसार में बहुत से प्राणी जीते है वही जीता है ॥

( सूर्य ) को प्राप्त होती है, आदित्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है और अन्न से प्रजा होती है ॥ १० ॥

पहिले लिख चुके हैं कि—गृहस्थ पुरुष अपने कुटुम्ब आदि के पोषण के सिवाय ब्रह्मचर्य आदि शेष तीन आश्रमों को अन्न और वस्त्र आदि के द्वारा सहायता पहुंचा सकता है, इसी विषय में मनु भगवान् कहते हैं कि:—

**यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः ॥**
**तथा गृहस्थमाश्रित्य, वर्त्तन्ते सर्वे आश्रमाः ॥११॥**

( मनु० अध्या० ३। श्लो० ७७ )

अर्थ—जिस प्रकार वायु का आश्रय ( सहारा ) ले कर सब जीव ( प्राणी ) स्थित ( कायम ) रहते हैं उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय ले कर सब आश्रम स्थित रहते हैं ॥ ११ ॥

**यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो, ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ॥**
**गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ १२ ॥**

( मनु० अध्या० ३। श्लो० ७८ )

अर्थ—जिस कारण ( चूंकि ) तीनों ही आश्रमी प्रतिदिन ज्ञान और अन्न के द्वारा गृहस्थ से ही पालित होते हैं, इस कारण गृहस्थाश्रम सब से बड़ा है[1] ॥ १२ ॥

---

१—इसी प्रकार मनु भगवान् ने अन्यत्र भी कहा है कि—"ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा। एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः" अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास, ये चार आश्रम हैं, इन में से तीन आश्रम ( ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास ) गृहस्थाश्रम के सहारे से कायम रहते हैं, और भी कहा है कि—"सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः। गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्त्ति

वस्तु गृह में अत्यन्त प्रिय हो उसी उस वस्तु को सर्वदा चाहने- वाले (ये सब उत्तम वस्तुयें सर्वदा मेरे पास रहें इस बात की इच्छा करने वाले) मनुष्य को उचित है कि–वह उन्हीं उत्तम तथा प्रिय वस्तुओं का दान गुणवानों को करे (गुणवान् अतिथियों को उन्हीं वस्तुओं को देवे) ॥ १७ ॥

देखो! गुणवान् पुरुष को उत्तम पदार्थों के देने के विषय में कहा गया है कि:—

ज्ञानिभ्यो दीयते यच्च तत् कोटिगुणितं भवेत् ॥
तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥ १८ ॥

(श्रुति)

अर्थ—ज्ञानवान् अतिथियों को जो कोई पदार्थ दिया जाता है वह पदार्थ कोटिगुण हो जाता है (अनन्तगुण हो कर दाता को प्राप्त होता है), इस लिये अपने ऐश्वर्य की वृद्धि चाहने वाले गृहस्थ पुरुष को उचित है कि–वह आत्मा के जानने वाले (ज्ञानवान्) अतिथि का श्रद्धापूर्वक अन्न और वस्त्र आदि से पूजन करे[1] ॥ १८ ॥

---

१–वर्तमान मे दान की प्रथा अत्यन्त ही बिगड़ी हुई दीख पडती है अर्थात् वर्तमान में देखा जाता है कि–गृहस्थ पुरुष प्रथम तो दान ही बहुत कम करते हैं, यदि करते भी है तो वह दान उन्ही साधारण जनों को दिया जाता है कि जिन से गृहस्थो का कुछ न कुछ काम निकलता है यह प्रथा महानिषिद्ध है, क्योकि उस दान का फल गृहस्थों को यथावत् नहीं प्राप्त हो सकता है, देखो! नीतिशास्त्र में कहा है कि–"दातव्यमिति यद्दान, दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च, तद्दान सात्विक विदु" अर्थात् जो दान देश काल को विचार कर अनुपकारी पात्र को दिया जाता है उस दान को सात्विक दान कहते है ॥

देखो ! मनु भगवान् ने भी इस विषय में कहा है कि:—

**न वै स्वयं तदश्नीया,दतिथिं यन्न भोजयेत् ॥**
**धन्यं यशस्यमायुष्यं, स्वर्ग्यं चातिथिपूजनम् ॥ १९ ॥**

(मनु० अध्या० ३। श्लो० १०६)

अर्थ—जिस पदार्थ का भोजन अतिथि को न कराया गया हो उस पदार्थ का भोजन गृहस्थ पुरुष को स्वयं नहीं करना चाहिये; क्योंकि अतिथिपूजन (अतिथि को भोजन करा के आप भोजन करना) गृहस्थ के धन, यश, आयु और सर्व सुखों की वृद्धि करता है ॥ १९ ॥

गृहस्थ के लिये ऊपर अतिथिसेवा कही गई है; इस विषय में यह जानना अत्यावश्यक है कि-अतिथि किस को माना गया है तथा अतिथि कितने प्रकार के होते हैं-देखो ! एक रात्रि निवास करने वाले ब्राह्मण (योग्य मनुष्य) को अतिथि कहते हैं; क्योंकि अतिथि शब्द का यही अर्थ है कि "नास्ति तिथिर्यस्यासौ अतिथिः" अर्थात् जिस के आगमन की कोई निश्चित तिथि नहीं है (कि कब आ जावे) तथा जिस के निवास की तिथि निश्चित नहीं है (जो नित्य नहीं रहता है) उस को अतिथि कहते हैं।

अतिथि के छः भेद माने गये हैं-जैसा कि कहा है कि:—

**ब्रह्मचारी यतिश्चैव, विद्यार्थी गुरुपोषकः ॥**
**अध्वगः क्षीणवृत्तिश्च, षडेते भिक्षुकाः स्मृताः ॥ २० ॥**

(अत्रिमहर्षेर्वचनम्)

अर्थ—ब्रह्मचारी (आचार्यकुल में रहने वाला), यति (चतुर्थाश्रमी अर्थात् सन्यासी), विद्यार्थी (ब्रह्मचर्यव्रत से रहित विद्या पढ़ने वाला), गुरुपोषक (ब्रह्मचर्य से युक्त हो कर गुरु के लिये अन्न आदि का मांगने वाला), अध्वग (मार्ग में चलने-

वाला ) तथा क्षीणवृत्ति ( असमर्थ अर्थात् जिस के किसी प्रकार का आजीवन न हो ), ये छः प्रकार के अतिथि कहलाते हैं[1] ॥२०॥

अतिथियों के सत्कार के विषय में धर्मशास्त्र में कहा गया है कि:—

**आसनावसथौ शय्या, मनुव्रज्यामुपासनाम् ॥**
**उत्तमेषूत्तमं कुर्या, द्धीने हीनं समे समम् ॥ २१ ॥**

( मनुस्मृति अध्याय ३ । श्लो० १०७ )

अर्थ—आसन, घर ( जगह ), शय्या ( चारपाई ), अनुव्रज्या ( विदाई ) तथा उपासना ( अन्न और जल आदि पदार्थों का देना तथा सेवा में उपस्थित रहना ), इन सब पदार्थों का उपयोग उत्तम अतिथियों के लिये उत्तम भाव से, हीन अतिथियों के लिये हीन भाव से तथा सम अतिथियों के लिये सम भाव से करे ॥२१॥

**देवानृषीन् मनुष्यांश्च, पितॄन् गृह्यांश्च देवताः ॥**
**पूजयित्वा ततः पश्चाद्, गृहस्थः शेषभुग् भवेत्॥२२॥**

( मनुस्मृ० अ० ३ । श्लो० ११७ )

अर्थ—गृहस्थ को उचित है कि-वह देव, ऋषि, मनुष्य, पितृजन तथा गृह्योक्त देव ( विश्वेदेवाः ), इन सब का यथायोग्य

---

१-इन छः प्रकार के अतिथियो में से यदि कोई अतिथि गृहस्थ के यहाँ आ जावे तो गृहस्थ को उचित है कि-अन्न वस्त्र और आसनादि से उस का अवश्य सत्कार करे, क्योंकि गृहस्थ के घर से अतिथि का विमुख हो कर जाना अत्यन्त पापकारक है, देखो ! नीतिशास्त्र में भी कहा है कि-"अतिथिर्यस्य भग्नाशो, गृहात्प्रतिनिवर्तते । स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा, पुण्यमादाय गच्छति" अर्थात् जिस पुरुष के घर से अतिथि निराश हो कर जाता है तो वह उसे दुष्कृत दे कर तथा उस का पुण्य ले कर जाता है ॥

पूजन अर्थात् सत्कार कर के पीछे शेष (बचे हुए) अन्न का भोजन करे ॥ २२ ॥

जो पुरुष इन सब का पूजन नहीं करता है वह पाप का भागी होता है, जैसा कि श्री कृष्ण भगवान् ने कहा है कि:—

**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो, मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ॥**

**भुञ्जते ते त्वघं पापा, ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥२३॥**

(गीता अध्या० ३ । श्लो० १३)

अर्थ—(पूर्व कहे हुए) पाँच यज्ञों को यथाशक्ति कर के जो पुरुष अवशिष्ट (बचे हुए) अन्न आदि पदार्थों का भोग करते हैं वे धर्मात्मा गृहस्थ पूर्व कहे हुए पाँच प्रकार के दोषों से छूट जाते हैं अर्थात् दोषों से छूट कर सब प्रकार के सुखों का भोग करते हैं; परन्तु जो पुरुष पूर्वोक्त पाँचों यज्ञों को नहीं करते हैं अर्थात् अपने ही लिये पकाते खाते हैं वे पुरुष उस अन्न को नहीं खाते हैं किन्तु पाप का भक्षण करते हैं[1] ॥ २३ ॥

ऊपर के लेख से स्पष्ट है कि—गृहस्थ को पाँचों यज्ञों का अनुष्ठान प्रतिदिन करना चाहिये; क्योंकि यह (पाँचों यज्ञों का करना) गृहस्थ का प्रतिदिन का धर्म (कर्त्तव्य) है, जो पुरुष अपने धर्म (कर्त्तव्य) का परित्याग कर देता है वह महादुःखी

---

१—तात्पर्य यह है कि जो गृहस्थ पुरुष अन्न को पका कर अतिथि को विना भोजन कराये आप ही उस को खा लेते है उन को बहुत पाप लगता है तथा वे गृहस्थ पुरुष पाँच प्रकार के दोषों तथा शरीर मन और वाणी आदि के दोषों से युक्त हो कर उन दोषों के दुःखरूप फल का दोनों जन्मों में भोग करते हैं, इस लिये गृहस्थों को अतिथिसत्कार कर पश्चात् भोजन करना चाहिये ॥

होकर अनेक यातनाओं का सहन करता है, देखो ! दक्ष जी का वचन है किः—

**सुखं वाञ्छन्ति सर्वे हि, तच्च धर्मसमुद्भवम् ॥**
**तस्माद्धर्मः सदा कार्यः, सर्ववर्णैः प्रयत्नतः ॥ २४ ॥**

(भगवतो दक्षस्य वचनम्)

अर्थ—यह बात निश्चित है कि–सब ही पुरुष सुख की अभिलाषा करते है परन्तु वह (सुख) धर्म (कर्त्तव्य) से ही होता है; इस लिये सब वर्णों के मनुष्यों को उचित है कि वे प्रयत्न के साथ धर्म को करें[1] ॥ २४ ॥

---

१–गृहस्थ के कर्तव्यों में मुख्यतया छ कर्त्तव्य नीतिशास्त्रकारों ने कहे हैं—आत्मरक्षण, योग्य जीविका, सन्तानसरक्षण, समाजसस्था, मनोरञ्जन और ईश्वरोपासना, इस लिये गृहस्थ पुरुष को उचित है कि इन अपने छ मुख्य कर्त्तव्यों का अच्छे प्रकार से पालन करे, इन में से प्रथम आत्मरक्षण का तात्पर्य यह है कि–काम क्रोधादि तथा विषय भोगादि शत्रुगणों से अपनी रक्षा कर योग्य आहार और विहार के द्वारा अपने शरीर का पोषण करे, क्योंकि शरीर ही धर्मादि चारों पुरुषार्थों का मुख्य कारण है योग्य जीविका से तात्पर्य यह है कि–धर्मशास्त्रप्रतिपादित अपनी जीविका को परहानि आदि के विना उचित रीति से करे, सन्तानसरक्षण से यह तात्पर्य है कि–अपने सन्तान का ठीक रीति से रक्षण करे अर्थात् ब्रह्मचर्यद्वारा विद्याभ्यास करा के उस को सुमार्ग पर चलावे, समाजसस्था का तात्पर्य यह है कि–वर्ण और आश्रमसम्बन्धी जो नियम हैं उन का उल्लघन न करे, मनोरञ्जन का तात्पर्य यह है कि–आत्मा और मन को क्लेश देने वाले कार्यों से बचे तथा उन को सुख देने वाले कार्यों में प्रवृत्ति करे तथा ईश्वरोपासना का तात्पर्य यह है कि–सध्यावदन, अग्निहोत्र तथा वेदाध्ययन आदि कार्यों के द्वारा ईश्वर-

गृहस्थ के विषय में मनु भगवान् कहते हैं कि:—

**अनेन विधिना नित्यं, पञ्च यज्ञान्न हापयेत् ॥**
**द्वितीयमायुषो भागं, कृतदारो गृहे वसेत् ॥ २५ ॥**

( मनु० अध्या० ५ । श्लो० १६९ )

अर्थ—गृहस्थ मनुष्य को उचित है कि–वह इस रीति से पाँच यज्ञों का त्याग न करे तथा आयु के दूसरे भाग तक स्त्रीसहित गृह में रहे ॥ २५ ॥

**एवं गृहाश्रमे स्थित्वा, विधिवत्स्नातको द्विजः ॥**
**वने वसेत्तु नियतो, यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ २६ ॥**

( मनु० अध्या० ६ । श्लो० १ )

अर्थ—इस प्रकार स्नातक द्विज विधिपूर्वक गृहस्थाश्रम में निवास कर नियमपूर्वक जितेन्द्रिय हो कर यथावत् वन में निवास करे ॥ २६ ॥

## वानप्रस्थाश्रम ॥

विधिपूर्वक आयु के दूसरे भाग तक गृह में निवास कर आयु के तीसरे भाग तक जो वन में निवास करना है अर्थात् वन आदि एकान्त स्थान में जा कर आत्मसुख की प्राप्ति के लिये विक्षेप वा नाना प्रकार के चञ्चलभाव को प्राप्त हुए मन का जो दमन करना है उस को वानप्रस्थाश्रम कहते हैं, यह आश्रम चतुर्थ संन्यासाश्रम का परम सहायक है; क्योंकि इस आश्रम में जब मनुष्य की इन्द्रियों और मन का विजय हो जाता है तथा चित्त की वृत्ति स्थिर हो जाती है तब उसे संन्यासाश्रम में विशेष कठिनता नहीं

---

भक्ति में सदा तत्पर रहे, उक्त छ कर्तव्यों का यहाँ पर स्वरूप मात्र दिखला दिया है इन का पूरा वर्णन नीतिशास्त्र आदि ग्रन्थों में देख लेना चाहिये ॥

होकर अनेक यातनाओं का सहन करता है, देखो ! दक्ष जी का वचन है किः—

**सुखं वाञ्छन्ति सर्वे हि, तच्च धर्मसमुद्भवम् ॥**
**तस्माद्धर्मः सदा कार्यः, सर्ववर्णैः प्रयत्नतः ॥ २४ ॥**

(भगवतो दक्षस्य वचनम्)

अर्थ—यह बात निश्चित है कि—सब ही पुरुष सुख की अभिलाषा करते हैं परन्तु वह (सुख) धर्म (कर्त्तव्य) से ही होता है; इस लिये सब वर्णों के मनुष्यों को उचित है कि वे प्रयत्न के साथ धर्म को करें[१] ॥ २४ ॥

---

१—गृहस्थ के कर्तव्यों में मुख्यतया छ कर्त्तव्य नीतिशास्त्रकारों ने कहे है—आत्मरक्षण, योग्य जीविका, सन्तानसरक्षण, समाजसस्था, मनोरञ्जन और ईश्वरोपासना, इस लिये गृहस्थ पुरुष को उचित है कि इन अपने छ मुख्य कर्त्तव्यों का अच्छे प्रकार से पालन करे, इन में से प्रथम आत्मरक्षण का तात्पर्य यह है कि—काम क्रोधादि तथा विषयभोगादि शत्रुगणों से अपनी रक्षा कर योग्य आहार और विहार के द्वारा अपने शरीर का पोषण करे, क्योंकि शरीर ही धर्मादि चारों पुरुषार्थों का मुख्य कारण है योग्य जीविका से तात्पर्य यह है कि—धर्मशास्त्रप्रतिपादित अपनी जीविका को परहानि आदि के विना उचित रीति से करे, सन्तानसंरक्षण से यह तात्पर्य है कि—अपने सन्तान का ठीक रीति से रक्षण करे अर्थात् ब्रह्मचर्यद्वारा विद्याभ्यास करा के उस को सुमार्ग पर चलावे, समाजसस्था का तात्पर्य यह है कि—वर्ण और आश्रमसम्बन्धी जो नियम हैं उन का उल्लघन न करे, मनोरञ्जन का तात्पर्य यह है कि—आत्मा और मन को क्लेश देने वाले कार्यों से बचे तथा उन को सुख देने वाले कार्यों में प्रवृत्ति करे तथा ईश्वरोपासना का तात्पर्य यह है कि—सध्यावदन, अग्निहोत्र तथा वेदाध्ययन आदि कार्यों के द्वारा ईश्वर-

गृहस्थ के विषय में मनु भगवान् कहते हैं कि:—

**अनेन विधिना नित्यं, पञ्च यज्ञान्न हापयेत् ॥**
**द्वितीयमायुषो भागं, कृतदारो गृहे वसेत् ॥ २५ ॥**

( मनु० अध्या० ५ । श्लो० १६९ )

अर्थ—गृहस्थ मनुष्य को उचित है कि-वह इस रीति से पाँच यज्ञों का त्याग न करे तथा आयु के दूसरे भाग तक स्त्रीसहित गृह में रहे ॥ २५ ॥

**एवं गृहाश्रमे स्थित्वा, विधिवत्स्नातको द्विजः ॥**
**वने वसेत्तु नियतो, यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ २६ ॥**

( मनु० अध्या० ६ । श्लो० १ )

अर्थ—इस प्रकार स्नातक द्विज विधिपूर्वक गृहस्थाश्रम में निवास कर नियमपूर्वक जितेन्द्रिय हो कर यथावत् वन में निवास करे ॥ २६ ॥

## वानप्रस्थाश्रम ॥

विधिपूर्वक आयु के दूसरे भाग तक गृह में निवास कर आयु के तीसरे भाग तक जो वन में निवास करना है अर्थात् वन आदि एकान्त स्थान में जा कर आत्मसुख की प्राप्ति के लिये विक्षेप वा नाना प्रकार के चञ्चलभाव को प्राप्त हुए मन का जो दमन करना है उस को वानप्रस्थाश्रम कहते हैं, यह आश्रम चतुर्थ संन्यासाश्रम का परम सहायक है; क्योंकि इस आश्रम में जब मनुष्य की इन्द्रियों और मन का विजय हो जाता है तथा चित्त की वृत्ति स्थिर हो जाती है तब उसे संन्यासाश्रम में विशेष कठिनता नहीं

भक्ति में सदा तत्पर रहे, उक्त छः कर्तव्यों का यहाँ पर स्वरूप मात्र दिखला दिया है इन का पूरा वर्णन नीतिशास्त्र आदि ग्रन्थों में देख लेना चाहिये ॥

मालूम होती है, यदि इस आश्रम का सेवन विना किये हुए ही मनुष्य गृहस्थाश्रम से संन्यासाश्रम को प्राप्त हो जावे तो सम्भव है कि-उस का चित्त उस आश्रम के दुःसाध्य धर्मों का परिषहन न कर सके।

इस आश्रम के विषय में मनु भगवान् कहते हैं किः—

**गृहस्थस्तु यदा पश्ये, द्वलीपलितमात्मनः ॥**
**अपत्यस्यैव चापत्यं, तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ १ ॥**

( मनु० अध्या० ६। श्लो० २ )

अर्थ—गृहस्थ पुरुष को उचित है कि-वह जब अपने शरीर की चमड़ी को ढीली देखे, शिर के बालों को श्वेत देखे तथा सन्तान के भी सन्तान ( पौत्र अर्थात् पोता ) हो जावे तब वन का आश्रय लेवे अर्थात् गृहस्थाश्रम का त्याग कर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करे[1] ॥ १ ॥

**सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं, सर्वं चैव परिच्छदम् ॥**
**पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य, वनं गच्छेत् सहैव वा ॥ २ ॥**

( मनु० अध्या० ६। श्लो० ३ )

अर्थ—ग्राम के आहार ( दाल; चावल और पकान्न आदि ) तथा सम्पूर्ण परिच्छद ( गाय; घोड़ा तथा शय्या आदि ) का परि-

१—वैद्यकशास्त्र से सिद्ध है कि चालीस वर्ष तक सम्पूर्ण धातुओं की वृद्धि हो कर उन की पूर्णता हो जाती है अत. (सौ वर्ष की आयु मान लेने पर) पचास वर्ष के बाद चमडी का ढीला पड़ना आदि सभव ही है, इस लिये लगभग पचास वर्ष के पश्चात् मनुष्य को वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना ही चाहिये, सन्तान के भी सन्तान हो जाने पर जो वानप्रस्थाश्रम का कथन किया गया है उस का तात्पर्य यह है कि उक्त दशा में तो मनुष्य को गृहस्थाश्रम में कभी रहना ही नहीं चाहिये ॥

त्याग कर स्त्री को पुत्रों को सौंप कर अथवा उसे भी साथ में ही ले कर वन को गमन करे॥ २॥

**अग्निहोत्रं समादाय, गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्॥**
**ग्रामादरण्यं निःसृत्य, निवसेन्नियतेन्द्रियः॥ ३॥**

(मनु० अध्याय ६। श्लो० ४)

अर्थ—अग्निहोत्र तथा उस के स्रुवा आदि उपकरणों को ले कर ग्राम से निकल कर इन्द्रियों को स्वाधीन कर वन में निवास करे॥ ३॥

**मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः, शाकमूलफलेन वा॥**
**एतानेव महायज्ञान्, निर्वपेद्विधिपूर्वकम्॥ ४॥**

(मनुस्मृ० अध्या० ६। श्लो० ५)

अर्थ—पवित्र अर्थात् बुद्धि को बढ़ाने वाले अनेक प्रकार के मुनियों के अन्नो से अथवा शाक मूल और फलो से इन्हीं (पूर्वोक्त) पाँच महायज्ञों को विधिपूर्वक करता रहे॥ ४॥

**वसीत चर्मचीरं वा, सायं स्नायात् प्रगे तथा॥**
**जटाश्च विभृयान्नित्यं, श्मश्रुलोमनखानि च॥ ५॥**

(मनुस्मृ० अध्या० ६। श्लो० ६)

अर्थ—मृग के चर्म अथवा वृक्ष के वल्कल (छाल) को पहिने, प्रातःकाल तथा सायंकाल (दोनों समय) स्नान करे तथा जटा (शिर के केश), श्मश्रु (डाढी मूँछ); नख (हाथ पैर के नाखून) और लोमों (कक्षा आदि के केशों) का नित्य धारण करे[१]॥ ५॥

**नक्तं वान्नं समश्नीयाद्, दिवा वाहृत्य शक्तितः॥**
**चतुर्थकालिको वा स्यात्, स्याद्वाप्यष्टमकालिकः॥६॥**

(मनुस्मृ० अ० ६। श्लो० १९)

---

१—जटा आदि का धारण करना वानप्रस्थ का मुख्य चिह्न वा लक्षण है॥

अर्थ—अपनी शक्ति के अनुसार रात्रि में अथवा दिन में आहार को ला कर एक वार भोजन करे; वा एक दिन उपवास कर दूसरे दिन सायंकाल को भोजन करे; वा तीन रात्रि उपवास करके चौथे दिन की रात्रि को भोजन करे[1] ॥ ६ ॥

**चान्द्रायणविधानैर्वा, शुक्लकृष्णे च वर्त्तयेत् ॥**
**पक्षान्तयोर्वाप्यश्नीया, द्यवागूं कथितां सकृत् ॥ ७ ॥**

( मनु० अ० ६ । श्लोक २० )

अर्थ—अथवा चान्द्रायण के विधान से शुक्ल और कृष्ण पक्ष में ग्रास को घटावे और बढ़ावे; अथवा पक्ष के अन्त में ( पूर्णमासी तथा अमावास्या को ) एक वार यवागू ( लपसी ) का भोजन करे ॥ ७ ॥

**ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्या, द्वर्षास्वभ्रावकाशिकः ॥**
**आर्द्रवासास्तु हेमन्ते, क्रमशो वर्धयँस्तपः ॥ ८ ॥**

( मनुस्मृ० अ० ६ । श्लोक २३ )

अर्थ—ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नि का साधन करे ( चारों तरफ से अग्नि का तथा ऊपर से सूर्य का तेज सहे ), वर्षाकाल में बादल का आश्रय लेवे तथा हेमन्त ऋतु में भीगे हुए वस्त्रों को पहिने रहे, इस प्रकार से क्रम से तप ( सहिष्णुता ) को बढ़ावे ॥ ८ ॥

---

१—तात्पर्य यह है कि जहाँ तक हो सके भूख और प्यास आदि द्वन्द्वों का सहन करे, भोजन के विषय में जो उक्त श्लोक में कई पक्ष कहे गये हैं उन का तात्पर्य यही है कि वानप्रस्थाश्रमी को अपनी शक्ति देख कर उक्त पक्षों में से किसी पक्ष का अवलम्बन करना चाहिये, क्योंकि शक्ति के प्रतिकूल कार्य करने से रोगादि के द्वारा शरीरनाश का सम्भव होता है ॥

**उपस्पृशंस्त्रिषवणं, पितृन् देवांश्च तर्पयेत् ॥**
**तपस्तपँश्चोग्रतरं, शोषयेद्देहमात्मनः ॥ ९ ॥**

(मनु० अ० ६। श्लो० २४)

अर्थ—तीनों कालों में स्नान कर देवों और पितरों का तर्पण करे तथा उग्रतर तप को करता हुआ अपने शरीर का शोषण करे (शरीर को सुखावे[1]) ॥ ९ ॥

**अग्नीनात्मनि वैतानान, समारोप्य यथाविधि ॥**
**अनग्निरनिकेतः स्या, न्मुनिर्मूलफलाशनः ॥ १० ॥**

(मनु० अ० ६। श्लोक २५)

अर्थ—अग्नियों को (वैखानसशास्त्र के) विधान से आत्मा में समारोपित (स्थित) कर के मुनिव्रत (मननशील) हो कर फल और मूल का भोजन किया करे तथा अग्नि और निकेत (स्थान) को भी न रक्खे ॥ १० ॥

**अप्रयत्नः सुखार्थेषु, ब्रह्मचारी धराशयः ॥**
**शरणेष्वममश्चैव, वृक्षमूलनिकेतनः ॥ ११ ॥**

(मनु० अ० ६। श्लो० २६)

अर्थ—वानप्रस्थाश्रमी को उचित है कि—वह सुख के लिये प्रयत्न न करे, ब्रह्मचर्य का सेवन करे (स्त्रीसम्भोग न करे),

---

१—पक्षान्त में भोजन करना, ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्निसाधन करना, वर्षाकाल में बरसते में बैठना तथा शीत ऋतु में भीगे वस्त्रों का पहिरना इत्यादि कथन का तात्पर्य यही है कि शरीर की सहिष्णुता (सहन शक्ति) को क्रम से बढ़ाना चाहिये, क्योंकि सन्यासाश्रम में सर्व क्लेशों का सहन (जब जैसा क्लेश आ पड़े) तब ही हो सकता है जब कि पहिले से किया हुआ सहिष्णुता का अभ्यास हो ॥

पृथिवी पर शयन करे, अधीनस्थ पदार्थों पर ममता न रक्खे तथा वृक्ष के नीचे निवास करे ॥ ११ ॥

**एताश्चान्याश्च सेवेत, दीक्षा विप्रो वने वसन् ॥**
**विविधाश्चोपनिषदी, रात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ १२ ॥**

( मनु० अ० ६। श्लो० २९ )

अर्थ—वन मे निवास करता हुआ विप्र ( मोक्ष की इच्छा करने वाला विद्वान् ) इन दीक्षाओं का तथा ( वानप्रस्थाश्रम में कही हुई ) दूसरी दीक्षाओं का भी सेवन करे और आत्मा की सिद्धि के लिये उपनिषदों में वर्णित अनेक प्रकार की श्रुतियों का अभ्यास करे[1] ॥ १२ ॥

**वनेषु च विहृत्यैवं, तृतीयं भागमायुषः ॥**
**चतुर्थमायुषो भागं, त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥१३॥**

( मनुस्मृति अ० ६। श्लो० ३३ )

अर्थ—इस प्रकार से आयु के तीसरे भाग तक वन में विहार कर ( आयु के तीसरे भाग को वन में व्यतीत कर ) आयु के चतुर्थ भाग में ( विषयादिकों का ) सङ्ग छोड़ कर विधिपूर्वक सन्यासाश्रम में प्रवेश करे[2] ॥ १३ ॥

---

१—उपनिषदों की श्रुतियों में अच्छे प्रकार से ब्रह्मविचार किया गया है इस लिये वानप्रस्थाश्रमी पुरुष को नित्यश उपनिषदों की श्रुतियों का मनन करना चाहिये, ऐसा करने से उस को ब्रह्मज्ञान हो सकता है अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप अच्छे प्रकार से विदित हो सकता है ॥

२—तात्पर्य यह है कि—७५ वर्ष तक वानप्रस्थाश्रम में निवास कर ७६वें वर्ष में सन्यासाश्रम में प्रवेश कर सौ वर्ष तक (वा यावज्जीवन) उसी (सन्यासाश्रम) में निवास करे ॥

## संन्यासाश्रम ॥

आयु के तीसरे भाग तक विधिपूर्वक वन में निवास कर अर्थात् वानप्रस्थाश्रम के नियमों का पालन कर आयु के चतुर्थ भाग में जो सर्वत्र तथा सर्व काल में ( सर्वदा ) ज्ञान के द्वारा एक आत्मतत्व ( ब्रह्म ) को देखना है अर्थात् मुख्यता से ब्रह्म का श्रवण मनन और निदिध्यासन करना है उस को संन्यासाश्रम कहते हैं[1] ॥

इस संन्यासाश्रम के ग्रहण करने में तीन पक्ष माने गये हैं–जो कि नीचे लिखे शतपथब्राह्मण के वाक्यों से अवगत हो सकते हैं:—

**ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥ १ ॥ यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा ॥ २ ॥ ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ॥ ३ ॥**

अर्थ—ब्रह्मचर्याश्रम को विधिपूर्वक समाप्त कर गृहस्थाश्रम का धारण करे, गृहस्थाश्रम को विधिपूर्वक समाप्त कर वानप्रस्थाश्रम का धारण करे तथा वानप्रस्थाश्रम को विधिपूर्वक समाप्त कर संन्यासाश्रम का धारण करे ( यह प्रथम पक्ष है ) ॥ १ ॥ जिस दिन इस लोक और परलोक के भोगों से अच्छे प्रकार वैराग्य उत्पन्न हो जावे उसी दिन चाहें गृहस्थाश्रम से चाहें वानप्रस्थाश्रम से सन्यासाश्रम का धारण कर ले

---

१–तात्पर्य यह है कि–इस सन्यासाश्रम में ब्रह्म के श्रवण मनन और निदिध्यासन के सिवाय दूसरा कोई भी प्रपञ्चसम्बन्धी कर्तव्य नहीं होना चाहिये, क्योंकि दूसरे प्रपञ्चों में पड़ने से ब्रह्मविचार यथावत् नहीं हो सकता है ॥

( यह दूसरा पक्ष है ) ॥ २ ॥ यदि किसी पुरुष को ब्रह्मचर्याश्रम में ही दृढ़ वैराग्य उत्पन्न हो जावे तो वह पुरुष उस आश्रम ( ब्रह्मचर्याश्रम ) से ही ( गृहस्थाश्रम तथा वानप्रस्थाश्रम में विना प्रवेश किये ही ) संन्यासाश्रम का धारण कर ले ( यह तीसरा पक्ष है[1] ) ॥ ३ ॥

अब इस संन्यासाश्रम के कर्त्तव्यों ( धर्मों ) का संक्षेप से कथन करते हैं:—

**आगारादभिनिष्क्रान्तः, पवित्रोपचितो मुनिः ॥**
**समुपोढेषु कामेषु, निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४ ॥**

( मनु० अध्या० ६। श्लो० ४१ )

अर्थ—घर से निकल कर पवित्र दण्ड और कमण्डलु[2] से युक्त हो कर अच्छे प्रकार से उपस्थित ( प्राप्त ) हुए कामों में भी इच्छारहित हो कर मुनि संन्यासाश्रम का धारण करे ॥ ४ ॥

**अनग्निरनिकेतः स्याद्, ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ॥**
**उपेक्षकोऽशङ्कुसुको, मुनिर्भावसमाहितः ॥ ५ ॥**

( मनु० अ० ६। श्लो० ४३ )

अर्थ—संन्यासाश्रमी पुरुष का कर्तव्य है कि—वह अग्नि तथा गृह से रहित हो, भिक्षा के लिये नगर का आश्रय ले, रोग आदि से चिन्ता न करे तथा स्थिरचित्त हो कर मुनिधर्म ( ब्रह्मविचार ) में लगा रहे ॥ ५ ॥

---

१—इन तीनों पक्षों में से किन्हीं आचार्यों ने प्रथम पक्ष को उत्तम माना है तथा किन्हीं आचार्यों ने तीसरे पक्ष को अत्यन्त कल्याणकारी माना है, इन में दूसरा पक्ष साधारण है ॥

२—दण्ड और कमण्डलु ये दोनो सन्यासाश्रम के मुख्य उपलक्षण (चिह्न) हैं ॥

**अलाभे न विषादी स्या, ल्लाभे चैव न हर्षयेत् ॥**
**प्राणयात्रिकमात्रः स्या, न्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥ ६ ॥**
( मनुस्मृति अध्या० ६। श्लो० ५७ )

अर्थ—भिक्षा के न मिलने पर दुःखी न हो तथा भिक्षा के मिलने पर हर्ष न करे किन्तु जीवनमात्र का उपाय करे और मात्रासङ्ग अर्थात् शब्द; स्पर्श; रूप; रस और गन्ध, इन विषयों से पृथक् रहे ॥ ६ ॥

**अतिवादाँस्तितिक्षेत, नावमन्येत कञ्चन ॥**
**न चेमं देहमाश्रित्य, वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ७ ॥**
( मनु० अध्या० ६। श्लो० ४७ )

अर्थ—दूसरों के कुवाक्यों का सहन करे, किसी प्राणी का अपमान न करे तथा इस देह का आश्रय ले कर अर्थात् सन्यासाश्रम का धारण कर किसी के साथ वैर न करे ॥ ७ ॥

**दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ॥**
**सत्यपूतां वदेद्वाचं, मनःपूतं समाचरेत् ॥ ८ ॥**
( मनु० अ० ६। श्लो० ४६ )

अर्थ—दृष्टि से शोधित मार्ग में पैर रक्खे ( देख कर चले ), वस्त्र से पवित्र किये हुए ( छाने हुए ) जल को पीवे, सत्य से पवित्र की हुई वाणी को बोले ( सत्य बोले ) तथा मन से पवित्र किये हुए कार्य को करे ( प्रणव का जप और विचारादि करे ) ॥ ८ ॥

**ध्यानं शौचं तथा भिक्षा, नित्यमेकान्तशीलता ॥**
**भिक्षोश्चत्वारि कर्माणि, पञ्चमो नोपपद्यते ॥ ९ ॥**
( भगवतो दक्षस्य वचनम् )

अर्थ—ध्यान अर्थात् सर्वत्र और सर्वदा ज्ञान के द्वारा एक

आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करना, शौच अर्थात् बाहर और भीतर पवित्र रहना, भिक्षा अर्थात् शरीर के निर्वाह के लिये पवित्र अन्न का ग्रहण करना तथा एकान्तशीलता अर्थात् एकान्त ( निर्जन ) स्थान में रहना, ये चार कार्य संन्यासी के लिये प्रतिदिन करणीय है, इन के सिवाय पाँचवाँ कोई कार्य नहीं है ॥ ९ ॥

**यदा भावेन भवति, सर्वभावेषु निःस्पृहः ॥**
**तदा सुखमवाप्नोति, प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १० ॥**

( मनु० अ० ६। श्लो० ८० )

अर्थ—जब संन्यासी सम्पूर्ण विषयों के दोषों के ज्ञान से इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण पदार्थों में निःस्पृह ( इच्छा-रहित ) होता है तब वह इस लोक और परलोक में नित्य सुख को प्राप्त होता है अर्थात् जीवनपर्यन्त आत्मज्ञान के प्रभाव से जीवन्मुक्ति के सुख को प्राप्त होता है तथा मृत्यु के पश्चात् अक्षय सुख मोक्ष को प्राप्त होता है[१] ॥ १० ॥

**सम्यग्दर्शनसम्पन्नः, कर्मभिर्न निबध्यते ॥**
**दर्शनेन विहीनस्तु, संसारं प्रतिपद्यते ॥ ११ ॥**

( मनु० अ० ६। श्लो० ७४ )

अर्थ—आत्मा अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला संन्यासी कर्मों से अर्थात् कर्मों के फलों से नहीं बँधता है परन्तु आत्मा के साक्षात्कार से रहित संन्यासी संसार को अर्थात् कर्मों के फल के अनुसार पुनर्जन्म को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

---

१—क्योंकि जीवन्मुक्ति को प्राप्त हुए पुरुष के लिये मृत्यु के पश्चात् मुक्ति का प्राप्त होना माना है ॥

**जराशोकसमाविष्टं, रोगायतनमातुरम् ॥**
**रजस्वलमनित्यञ्च, भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ १२ ॥**

( मनु० अ० ६। श्लो० ७७ )

अर्थ—संन्यासी को उचित है कि-वह जरा ( बुढापे ) और शोक ( चिन्ता आदि ) से युक्त, रोगों के स्थान, भूख और प्यास आदि से पीडित होने वाले, मलिन तथा अनित्य पञ्चभूतों के गृह अर्थात् शरीर का त्याग कर दे अर्थात् ब्रह्मज्ञानरूपी जल से अविद्यारूपी मल को धो दे अथवा ब्रह्मज्ञानरूपी खड्ग से संसार के मूल अविद्या को काट दे ॥ १२ ॥

यह द्वितीय अध्याय का आश्रमधर्मवर्णन नामक
दूसरा प्रकरण समाप्त हुआ ॥

इति श्रीस्वामि ब्रह्मानन्दगिरिनिर्मिते वर्णाश्रमधर्म-
प्रकाशे द्वितीयोऽध्यायः ॥



# तृतीय अध्याय ॥

## प्रथम प्रकरण–राजधर्मवर्णन ॥

### राजधर्मविचार ॥

ऐसा कौन भारतवासी होगा कि–जिस के हृदय में राजधर्म वा प्राचीन राजनीति के देखने सुनने और जानने की इच्छा न होती हो अर्थात् इस विषय के देखने सुनने और जानने की इच्छा सर्वसाधारण को हुआ ही करती है; इस का कारण यही है कि–राजा और प्रजा का सम्बन्ध अनादि काल से चला आता है; जब इन दोनों का अनादि सम्बन्ध है तो राजा को प्रजासम्बन्धी व्यवहार के तथा प्रजा को राजधर्म वा राजनीति के जानने की इच्छा का होना एक स्वाभाविक बात है; इस पर भी भारतवासी तो सदैव से ही स्वामिभक्त और राजनीति के अनुगामी रह चुके हैं; अतः उन को तो राजनीति के पथ के अवलम्बन के विना चैन ही कैसे पड़ सकता है।

यद्यपि वर्तमान में भारतसन्तान पतितदशापन्न हो रहे हैं तथापि उन के शरीर में अब तक उन पूर्वजों के रक्त के सञ्चार का निरवशेष ( ख़ातमा ) नहीं हुआ है जो कि–अन्त समय तक "न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः" इस महामन्त्र को हृदयस्थ कर अपने सत्कर्त्तव्य से कभी विचलित नहीं हुए थे अर्थात् राजनीति के पथ से एक पैर भी नहीं हटे थे[1]।

---

१–हटते कैसे! उन के तो रोम २ से यह ध्वनि निकल रही थी कि "यदि नित्यमनित्येन, निर्मलं मलवाहिना ॥ यशः कायेन लभ्येत, तन्न लब्धं भवेन्नु किम् ॥ १ ॥ अर्थात् इस अनित्य तथा मलवाही

अस्तु-इस विषय में हम विशेष न लिख कर सर्वसाधारण की लालसापूर्ति के लिये परम हितकारिणी प्राचीन राजनीति का कुछ वर्णन कर अन्त में राजा के धर्मों का संक्षेप से वर्णन करेंगे, आशा है कि-पाठकगण इस का अवलोकन कर इस से लाभ उठावेंगे ॥

## राजा के गुण ॥

कुटिलता से रहित, शुभ लक्षणों से युक्त, रूप की सम्पत्ति से युक्त शरीर वाला, मद से रहित, तेज से युक्त, यशस्वी, कृपालु, कलाओं का जानने वाला, शुद्ध राजवंश में उत्पन्न होने वाला, वृद्धों के अनुकूल चलने वाला, तीन शक्तियो (प्रभावशक्तिः मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्तिः इन तीन शक्तियों) से युक्त, प्रजा पर प्रेम रखने वाला, प्रजास्वामी, तीनो (धर्मः अर्थ और काम) पुरुषार्थों का सम भाग से समर्थन करने वाला, कोश से युक्त, सच्ची प्रतिज्ञा वाला, चरों के द्वारा सब वृत्तान्तों का जानने वाला, दूरदर्शी, सिद्धिपर्यन्त कार्य को करने वाला, उद्योगी, शस्त्रविद्या में प्रवीण, शास्त्रों का अभ्यासी, दुष्टों का निग्रह तथा शिष्टों के अनुग्रह में तत्पर, उत्कोच (रिश्वत) का न लेने वाला, उपायों के द्वारा राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करने तथा उसे बढ़ाने वाला, दानशील, विजयी, न्याय में प्रेम रखने वाला, न्याय का जानने वाला, व्यसनों में अलिप्त, उत्तम पराक्रम से युक्त, गम्भीरताः उदारता और चातुर्य से शोभित, क्षमा मांगने पर्यन्त ही क्रोध करने वाला, सतोगुण

---

शरीर से यदि नित्य (सदा रहने वाला) तथा निर्मल यश मिल जावे तो फिर क्या नहीं मिल गया अर्थात् सब ही कुछ मिला हुआ समझना चाहिये ॥ १ ॥

से युक्त तथा तत्वविद्या ( पदार्थविद्या ) में कुशल राजा होना चाहिये; अर्थात् राजा को उक्त गुणों का धारण करना चाहिये ॥

## राजा का आवश्यक व्यवहार ॥

राजा को उचित है कि—वह देवता; गुरु; कुल में बड़े; ब्राह्मण तथा साधु के सिवाय किसी को नमस्कार न करे, किसी के छुए हुए अन्न को न खावे, दूसरे के साथ भोजन न करे, श्राद्ध में भोजन न करे, दूसरे के गृह में भोजन न करे, अगम्य ( जिन के साथ सम्भोग वर्जित है उन ) तथा अस्पृश्य ( जिन का स्पर्श नहीं करना चाहिये उन ) स्त्रियों के साथ सङ्गम न करे, दूसरे के धारण किये हुए वस्त्र तथा आभूषण का धारण न करे, दूसरे की शय्या पर शयन न करे, दूसरे के आसन पर न बैठे, दूसरे के पात्र में भोजन न करे, अपने बैठने के आसन; शय्या ( बिस्तर ); घोडे; रथ; हाथी तथा दूसरे वाहनों पर गुरुजनों के सिवाय किसी दूसरे को न बैठने दे तथा काँजी; कथित ( उकाला हुआ ) अन्न; जौं; तेल और पाँच उदुम्बर जाति के फल; इन का कभी भक्षण न करे ।

अपराध सहस्र ( हज़ारों अपराध ) करने पर भी स्त्री; ब्राह्मण और तपस्वियों का न तो वध करे और न उन के किसी अंग को कटवावे किन्तु उन को देश से निकाल देना मात्र दण्ड दे, देवता; ब्राह्मण; गुरु और साधु का अभ्युत्थान ( उठ के

---

१—"पाँच उदुम्बर जाति के फल" अर्थात् गूलर, वड़, पीपल, पाकड़ और वेतस, इन पाँच क्षीरी ( दूध वाले ) वृक्षों के फलों को न खावे ॥

खड़े होना ) और नमस्कार आदि से सदा मान करे, धर्म अर्थ और काम का इस प्रकार आचरण करे कि–जिस से एक से दूसरे में बाधा न पहुँचे, सम्पूर्ण प्रजा का प्रतिसमय स्मरण कर २ के पालन करे, मन्त्री तथा सेवकों से पीडित प्रजा का प्रमाद छोड़ कर शीघ्र ही संरक्षण करे, किसी को कभी लोभ; क्रोध और अभिमान से दण्ड न दे किन्तु दोष के अनुसार दण्ड दे, आलस्य को छोड़ कर नीति के अनुसार सदा कोश की वृद्धि करे, नीति के द्वारा प्रजा का पालन तथा राज्यहित करे, नीति का उल्लंघन न करे क्योंकि न्याय से रहित राजा दोनों लोकों में दुःख का भागी होता है।

अङ्गरक्षक; कञ्चुकी; मन्त्री; छड़ीदार; रसोइया तथा द्वारपाल उन्हीं पुरुषों को बनावे जो कि–वंश की परम्परा से चले आते हों, मृगया ( शिकार ); जुआ; वेश्यागमन; दासीगमन; परस्त्रीगमन; मद्यपान; वचनों की कठोरता; अर्थदूषण ( व्यर्थ व्यय ); व्यर्थ में अर्थदण्ड की कठोरता; निष्ठुरता; अधिक वाद्य गीत तथा नृत्य ( नाच ) का देखना सुनना, दिन में निद्रा तथा परोक्ष में निन्दा, इन सब व्यसनों का त्याग करे, जैसे हंस नीर ( जल ) और क्षीर ( दूध ) का विवेचन ( पृथक्करण ) करता है उसी प्रकार राजा भी न्याय और अन्याय के परामर्श ( विचार ) में दत्तचित्त हो अर्थात् उक्त विषय में पक्षपात और उद्वेग न करे, स्त्री; लक्ष्मी; विपक्ष ( शत्रु ); नीच; मद्यापराधी ( मद्यपान कर अपराध करने वाला ); मूर्ख तथा लोभी का कभी विश्वास न करे, देवता और गुरु की आराधना में, अपनी प्रजा के पालन में तथा पोषण करने योग्य के पोषण में प्रतिहस्तक न करे ( अपनी एवज़ में दूसरे को नियत न करे ), सम्पत्ति में अभिमान तथा विपत्ति में धैर्य का त्याग न करे क्योंकि विद्वानों ने इन दोनों लक्षणों को अति उत्तम माना

है, सम्पूर्ण भूमि को शास्त्र; दान; भोजनशाला; प्रासाद तथा जलाशय आदि अनेक यशःकारक कार्यों से पूर्ण करे, शत्रुजनों का नाश तथा सुहृज्जनो का पोषण करे, तीन शक्तियों; चार उपायों; सात अङ्गो तथा तीन वर्गों का सदैव यत्नपूर्वक रक्षण करे, ( प्रभुशक्ति; उत्साहशक्ति और मन्त्रशक्ति; ये तीन शक्तियाँ है, साम; दान; दण्ड और भेद; ये चार उपाय है, स्वामी; अमात्य ( मन्त्री ); सुहृद्; कोश; राष्ट्र; दुर्ग और बल ( सेना ); ये सात अंग है ), सन्धि; विग्रह; यान; आसन; आश्रय और द्वैधीभाव; ये छः गुण राज्य के स्तम्भरूप हैं इस लिये इन का यथायोग्य व्यवहार करे, अपने पराये की अपेक्षा छोड़ कर सर्व प्रजा का पालन करे, दुष्ट; प्रजा को पीड़ा देने वाले; राज्यपद के आकांक्षी; गुरु और देव का अनादर करने वाले; शत्रु और चोर; इन सब को प्राणों से वियुक्त कर दे, लञ्चा ( घूस ) के लेने वाले अधिकारियो को अच्छे प्रकार से दण्ड दे तथा सर्वदा वही कार्य करे कि जिस से सम्पूर्ण प्रजा स्वस्थ ( आराम में ) रहे।

राजा को चाहिये कि—वह उक्त शिक्षायुक्त हो कर प्रातःकाल उठ कर ईश्वराराधन करे, पश्चात् प्रातःकाल का कार्य तथा स्नानादि कर के परिच्छद ( सवारी ) के सहित देवदर्शन को जावे, पश्चात् गुरु के चरणो को नमस्कार कर उस के आगे बैठ कर सावधान चित्त से धर्मशास्त्र का श्रवण करे, पीछे सम्पूर्ण राजचिन्हों से युक्त तथा मन्त्री के साथ सभा में आ कर सिंहासन पर बैठ कर सर्व राज्यकार्याधिकारियों अर्थात् सेनापति तथा चर ( दूत ) आदि के कार्यों का निरीक्षण करे।

राजा का कर्तव्य है कि—वह जनरहित उद्यान में वा प्रासाद में अथवा अन्य किसी एकान्त स्थान में जा कर सावधानता से

मन्त्रियों के साथ कर्त्तव्याकर्त्तव्य का मन्त्र ( सलाह ) करे, मन्त्र का भेद हो जाने पर राजा के कार्य का नाश हो जाता है इस लिये मन्त्र को करते समय मन्त्र का भेद करने वाले जनों को वहाँ से हटा देना चाहिये ॥

## राजनीति का वर्णन ॥

नीति के तीन भेद हैं—युद्धनीति, दण्डनीति और व्यवहारनीति, इन में से प्रथम ( युद्धनीति ) का उपयोग विशेष समय पर ही किया जाता है किन्तु शेष दोनों नीतियों ( दण्डनीति तथा व्यवहारनीति ) का उपयोग निरन्तर किया जाता है।

प्रथम जो सन्धि आदि छः गुण कहे हैं उन का स्वरूप इस प्रकार है कि—परस्पर मिल कर व्यवस्था करने को सन्धि कहते हैं, वैर को विग्रह कहते हैं, शत्रु के सामने जाने को यान कहते हैं, शत्रु की उपेक्षा कर अपने स्थान पर बैठे रहने को आसन कहते हैं, अपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर स्थापित करने को द्वैधीभाव कहते हैं तथा शत्रु के भय से किसी समीपवर्ती राजा का आश्रय लेने को आश्रय कहते हैं, इन छःवों गुणों का चिन्तन राजा को नित्य करना चाहिये तथा काल और स्थान आदि का विचार कर यथाविधि इन का प्रयोग करना चाहिये, इन के प्रयोग का समय यही है कि—जब राजा देखे कि—भविष्यत् में उत्तम लाभ होने वाला है तब अल्प हानि का सहन कर के भी शीघ्र ही सन्धि कर ले, जिस समय अपने को बल तथा तुष्ट ( प्रसन्न ) अमात्य आदि से युक्त देखे उस समय विग्रह करे, जिस समय यह निश्चय हो कि—सेना शत्रुपक्ष के दलन में उत्साहयुक्त, बलवती तथा सर्व प्रकार से परिपूर्ण है उस समय शत्रु के समक्ष में प्रयाण ( गमन ) करे, जब सेना की शक्ति ( चढ़ाई आदि किन्हीं कारणों से ) क्षीण

हो गई हो उस समय साम, दाम और भेद आदि उपायों के द्वारा आसन का अवलम्बन करे, जब शत्रु बलिष्ठ तथा दुर्धर्ष मालूम हो उस समय सेना के दो भाग कर के स्वस्थ हो कर दुर्ग में बैठ जावे तथा जब दुर्ग में ठहरने से भी रक्षा न होती हो तब किसी बलवान् तथा धर्मात्मा राजा का आश्रय ले परन्तु यदि उस का आश्रय लेने पर भी कुछ शङ्का रहे तो उस का त्याग कर निःशङ्क चित्त से सङ्ग्राम में जा कर युद्ध करे, क्योंकि युद्ध में विजय के होने से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है और मृत्यु के होने से देवाङ्गनाओ की प्राप्ति होती है; जब यह बात है तो क्षण में नाश होने वाले शरीर की रण में मरने से चिन्ता ही क्या है ।

प्रथम जो साम आदि चार उपाय कहे है उन का स्वरूप इस प्रकार है कि–प्रिय भाषण के द्वारा कार्यसिद्धि करने को साम और दान के द्वारा कार्यसिद्धि करने को दाम कहते हैं, राज्याधिकारियों में परस्पर भेद ( फूट ) करा देने को भेद तथा शत्रु के वध करने को दण्ड कहते है, इस चौथे ( दण्डरूप ) उपाय का प्रयोग तब ही करना चाहिये जब कि–किसी दूसरे उपाय से किसी प्रकार कार्यसिद्धि न होती हो; क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है कि–जब साम, दान तथा भेद से ही शत्रु जीता जा सकता हो उस समय राजा को युद्ध नहीं करना चाहिये, इस का कारण यही है कि–युद्ध में विजय का होना तो सन्दिग्ध है परन्तु पुरुषों का नाश होना असन्दिग्ध ( निश्चित ) ही है इस लिये जहाँ तक अन्य उपायो से कार्यसिद्धि हो सके वहाँ तक युद्ध नही करना चाहिये, यह संक्षेप से प्रथम युद्धनीति का वर्णन किया गया है; इस का विशेष वर्णन देखना हो तो नीतिशास्त्रों में देख लेना चाहिये ।

दूसरी दण्डनीति है-इस के सात भेद है-हाकार, माकार, धिकार, परिभाषण, मण्डल मे बन्धन, कारागृह मे क्षेपण तथा अङ्गच्छेदन, इन के सिवाय किन्हीं नीतिज्ञों ने आठवॉ भेद द्रव्य-दण्ड भी माना है।

"हाय तुम ने ऐसा काम किया" इस प्रकार कथन करने को हाकार कहते है, "ऐसा मत करो" इस प्रकार कहने को माकार कहते है, "धिक्कार है तुम को जो तुम ने ऐसा काम किया" इस प्रकार कहने को धिकार कहते है, "मत जाओ" इस प्रकार आक्षेप के सहित कहने को परिभाषण कहते हैं, किसी नियत स्थान मे अपराधी को रोक रखने को मण्डल में बन्धन कहते है, अपराधी को जेलखाने में रखने को कारागृह में क्षेपण कहते है, अपराधी के किसी अङ्ग के कटवाने को अङ्ग-च्छेदन कहते है तथा अपराधी पर द्रव्य का जुर्माना करने को द्रव्यदण्ड कहते है।

राजा को उचित है कि-वह इन सब दण्ड के भेदों का प्रयोग प्रजा की स्थिति के लिये दोष के अनुसार दुर्जनो पर करे, इन सब भेदों में से भी ब्राह्मण के लिये माकार, क्षत्रिय और वैश्य के लिये हाकार, शूद्रमात्र के लिये धिकार तथा शेष चारों दण्डो का प्रयोग यथायोग्य चारो वर्णों के लिये करे, यह संक्षेप से दण्डनीति का वर्णन कर दिया गया है, इस का विशेष विस्तार अर्थात् किस २ अपराध में क्या २ दण्ड करना चाहिये इत्यादि विषय नीतिशास्त्रों में देखना चाहिये, यहॉ विस्तार के भय से उस को नहीं लिखते है।

तीसरी व्यवहारनीति है—इस के विषय मे राजा का यह कर्तव्य है कि-वह सुवर्णासन पर बैठ कर सभासद और मन्त्रियों के सहित तथा विद्वान् पुरुषो के साथ में व्यवहारसम्बन्धी विचार करे।

व्यवहार दो प्रकार का माना गया है-सन्देहात्मक तथा तत्त्वात्मक, इन में से पहिला (सन्देहात्मक) व्यवहार सत्संग से तथा दूसरा (तत्त्वात्मक) व्यवहार चिह्नों के देखने से जाना जाता है।

जो राजा न्याय नहीं करना चाहता है तथा जो व्यवहार का नाशक है वह निस्सन्देह नरक को प्राप्त होता है।

विधि और निषेध रूप से अधिकारी की अपेक्षा व्यवहार के अठारह भेद[1] हैं-- ऋण का देना और लेना, बहुत लोगों का मिल कर कार्य करना, देने योग्य पदार्थ की विधि, दायभाग, सीमा-विवाद, वेतन का ग्रहण, क्रय और विक्रय का सन्ताप, स्वामी और भृत्य (नौकर) का विवाद, निक्षेप (धरोहर का रखना), विना स्वामी की वस्तु का विक्रय करना, वाणी की कठोरता, समय का व्यतिक्रम, स्त्री को ले जाना, जुआ खेलना, चोरी करना, साहस करना, दण्ड की कठोरता तथा स्त्री और पुरुष के धर्म का विभाग।

राजा को उचित है कि-वह इन अठारह प्रकार के व्यवहारों में से किसी व्यवहार के उपस्थित होने पर तत्त्व को विचार कर यथार्थ न्याय करे तथा अपराधी को यथायोग्य दण्ड दे।

इन व्यवहारों में से प्रत्येक व्यवहार के विषय में दोष के अनुसार क्या २ दण्ड नियत है; इस विषय का विस्तार राजनीति के ग्रन्थों में देख लेना चाहिये; यहाँ विस्तार के भय से उस का उल्लेख नहीं किया जाता है॥

---

१-किन्हीं लोगो के मत में व्यवहार के १०८ भेद हैं, उस का हेतु यही है कि-मनुष्यों की क्रिया में भेद होने से व्यवहार की अनेक शाखायें हैं॥

## राजा का आवश्यक कर्तव्य प्रजापालन ॥

सर्वतन्त्र सिद्धान्त और लोकव्यवहार से सिद्ध है कि-राजा का प्रधान कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा करना है; इस लिये अब संक्षेप से धर्मशास्त्रों के प्रमाणों के सहित इस विषय में लिखा जाता है।

**ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं, क्षत्रियेण यथाविधि ॥**
**सर्वस्यास्य यथान्यायं, कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ १ ॥**

(मनु० अ० ७। श्लो० २)

अर्थ—वेदोक्त संस्कार को प्राप्त हुए क्षत्रिय (राजा) को न्याय के अनुसार इस सम्पूर्ण राज्य की रक्षा करनी चाहिये अर्थात् वर्णाश्रम की व्यवस्था को यथार्थ रीति से चलाना चाहिये ॥ १ ॥

**तस्याहुः सम्प्रणेतारं, राजानं सत्यवादिनम् ॥**
**समीक्ष्य कारिणं प्राज्ञं, धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २ ॥**

(मनु० अध्या० ७। श्लो० २६)

अर्थ—सत्य बोलने वाले, अच्छे प्रकार से विचार कर कार्य को करने वाले, बुद्धिमान् तथा धर्म अर्थ और काम को जानने वाले राजा को ही दण्ड देने का अधिकारी कहा है; अर्थात् इन लक्षणों से युक्त धार्मिक राजा धर्म से युक्त प्रजा का पालन और अधर्म से युक्त प्रजा (चोर और स्वधर्मत्याग आदि दुराचारों से युक्त प्रजा) को यथावत् दण्ड दे सकता है ॥ २ ॥

**स्वे स्वे धर्मे निविष्टाना, सर्वेषामनुपूर्वशः ॥**
**वर्णानामाश्रमाणां च, राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३ ॥**

(मनुस्मृति अध्या० ७। श्लो० ३५)

---

१-तात्पर्य यह है कि-राजा को उचित है कि-वह उक्त लक्षणों से युक्त हो कर धार्मिक पुरुषों का पालन करे तथा दुष्टों को दण्ड दे ॥

अर्थ—अपने २ धर्म में चलने वाले अनुपूर्व ( यथायोग्य ) से सब वर्णों और आश्रमों की रक्षा करने वाला राजा ही ईश्वर ने उत्पन्न किया गया है[1] ॥ ३ ॥

**सर्वतो धर्मषड्भागो, राज्ञो भवति रक्षतः ॥**
**अधर्मादपि षड्भागो, भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ ४ ॥**

अर्थ—रक्षा करने ( अधर्म से बचा कर धर्म मे चलाने ) वाले राजा को सब से धर्म का छठा भाग प्राप्त होता है तथा अधर्म से रक्षा न करने वाले राजा को सब अधर्मियों से अधर्म का छठा भाग प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

**रक्षन् धर्मेण भूतानि, राजा वध्यांश्च घातयन् ॥**
**यजतेऽहरहर्यज्ञैः, सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ५ ॥**

अर्थ—प्राणियो की धर्म से रक्षा करता हुआ तथा वध्यों ( अपराधियो ) को दण्ड देता हुआ राजा मानों प्रतिदिन दक्षिणा-सहित लक्ष यज्ञ करता है ॥ ५ ॥

**निग्रहेण हि पापानां, साधूनां सङ्ग्रहेण च ॥**
**द्विजातय इवेज्याभिः, पूयन्ते सततं नृपाः ॥ ६ ॥**

अर्थ—पापियो का निग्रह ( जेलखाने में बन्द ) करने से तथा साधुओं का संग्रह करने से ( सभा में रखने से ) राजा इस प्रकार पवित्र होते है जैसे कि—उत्तमोत्तम यज्ञ करने से द्विजाति पवित्र होते है ॥ ६ ॥

---

१—तात्पर्य यह है कि सब वर्ण और आश्रम ठीक रीति से अपने २ धर्म में प्रवृत्त हैं वा नहीं तथा अपने २ धर्मों में प्रवृत्त हुए उन ( वर्ण और आश्रमों ) के कार्य में कोई बाधा तो नहीं डालता है इस कार्य का भार ईश्वर ने राजा के ही ऊपर डाला है इस लिये राजा को उचित है कि वह ईश्वर के सौंपे हुए उक्त कार्य को ठीक रीति से पूर्ण कर अपने कर्त्तव्य से निस्तार को प्राप्त हो ॥

सङ्ग्रामेष्वनिवर्त्तित्वं, प्रजानां चैव पालनम् ॥
शुश्रूषा ब्राह्मणानाञ्च, राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ७ ॥
(मनु० अ० ७। श्लो० ८८)

अर्थ—सङ्ग्राम से न हटना, प्रजा का यथावत् पालन करना तथा ब्राह्मणों ( ब्रह्म के जानने वालों अर्थात् ज्ञानियो ) की सेवा करना, ये तीन कार्य राजाओं के लिये परम कल्याणकारी माने गये हैं ॥ ७ ॥

अनपेक्षितमर्यादं, नास्तिकं विप्रलुम्पकम् ॥
अरक्षितारमत्तारं, नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ८ ॥

अर्थ—शास्त्र की मर्यादा का उल्लङ्घन करने वाले, नास्तिक, अयोग्य दण्ड कर आदि को लेने वाले, वर्ण और आश्रमों की रक्षा न करने वाले तथा धान्य के छठे भाग आदि का भक्षण करने वाले राजा को अधोगामी जानना चाहिये[1] ॥ ८ ॥

यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं, नास्तिकाक्रान्तमद्विजम् ॥
विनश्यत्याशु तत् कृत्स्नं, दुर्भिक्षव्याधिपीडितम्॥९॥
(मनु० अ० ८। श्लो० २२)

अर्थ—जिस राज्य में शूद्र और नास्तिक ( वेद, परलोक, परजन्म, कर्मफल और ईश्वर आदि को न मानने वाले ) अधिक हों तथा द्विज ( ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ) न हों वह सम्पूर्ण राज्य दुर्भिक्ष और व्याधि से पीडित हो कर शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है[2] ॥ ९ ॥

---

१—तात्पर्य यह है कि शास्त्र की मर्यादा का उल्लघन करने आदि व्यवहार में लगा हुआ राजा केवल पाप का उपार्जन कर अनेक दु खों से पीडित होता है ॥

२—तात्पर्य यह है कि शूद्र और नास्तिकों के होने से अधर्म की

यत्र त्वेते परिध्वंसा, ज्जायन्ते वर्णदूषकाः ॥
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं, क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १० ॥

अर्थ—जिस राज्य में अम्बष्ठ, निषाद, उग्र और अपसद आदि नाम वाले वर्णसङ्कर बहुत उत्पन्न होते हैं वह राज्य वहाँ के निवासियों के सहित शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है ॥१०॥

ऊपर के लेख से स्पष्टतया सिद्ध होता है कि—न्यायानुसार प्रजा की रक्षा करना, दुष्टों को दण्ड देना, श्रेष्ठो का आदर करना, वर्ण और आश्रमों की रक्षा करना, नास्तिक आदि को राज्य में न रहने देना तथा दुर्व्यसनों से अलग रहना, इत्यादि कर्त्तव्य राजा के परम धर्म हैं; इस लिये राजा को उचित है कि—सर्वदा स्वयं नीति के अनुसार चल कर उक्त कर्त्तव्यों का पालन कर अक्षय सुख को प्राप्त हो तथा सर्वदा वही उपाय करे कि—जिस से सम्पूर्ण प्रजा भी स्वधर्म का परित्याग न करे ॥

## प्रजा कर्त्तव्य ॥

जिस प्रकार राजा का यह परम धर्म कहा गया है कि—वह सर्वदा प्रजा की रक्षा करे; उसी प्रकार प्रजा का भी यह परम धर्म है कि—वह सर्वदा राजा की आज्ञा का उल्लंघन न करे अर्थात् राजा में सर्वदा श्रद्धा और भक्ति को रख कर उस के बनाये हुए नियमों पर चले, देखो ! राजा और प्रजा का सम्बंध ठीक पिता और पुत्र के तुल्य है, जैसे—सुपुत्र अपने पिता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है उसी प्रकार प्रजा को भी राजा की आज्ञा में चलना चाहिये यही वास्तव में स्वामिभक्ति है ।

---

तो वृद्धि होती है तथा द्विजातिजनों के न होने से अग्निहोत्रादि धर्मानुष्ठान होता नहीं है इस लिये वह राज्य दुर्भिक्ष और व्याधि आदि से पीडित हो कर शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है ॥

देखो ! अनेक प्रकार के उपद्रवों और संकटो के उपस्थित होने पर राजा ही आप संकटों का सहन करता है तथा अपनी प्रजा की रक्षा करता है, तो क्या प्रजा का यह कर्त्तव्य नहीं है कि-वह सर्वदा राजा के बनाये हुए नियमों का अनुसरण करे और समय पड़ने पर राजा को तन मन और धन से सहायता पहुँचावे।

अब इस लेख को विशेष न बढ़ा कर हम इस विषय में (प्रजा के कर्त्तव्यविषय में) धर्मशास्त्रों का कथन दिखलाते हैं कि-धर्मशास्त्रों ने राजनियमो का अनुसरण करने आदि के विषय में प्रजा को क्या शिक्षा दी है।

देखो ! मनु भगवान् ने इस विषय में प्रजा को संकेत कर कहा है कि:—

**अराजके हि लोकेऽस्मिन्, सर्वतो विद्रुते भयात् ॥**
**रक्षार्थमस्य सर्वस्य, राजानमसृजत् प्रभुः ॥ १ ॥**

(मनु० अ० ७। श्लो० ३)

अर्थ—(हे प्रजा जनो !) यदि राजा न हो तो इस लोक में भय से चारों ओर हलचल उत्पन्न हो जावें; इस कारण सब की रक्षा के लिये ईश्वर ने राजा को उत्पन्न किया है ॥ १ ॥

**सोऽग्निर्भवति वायुश्च, सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ॥**
**स कुबेरः स वरुणः, स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ २ ॥**

(मनु० अ० ७। श्लो० ७)

---

१—तात्पर्य यह है कि–यदि राजा न हो तो प्रजा को सन्मार्ग पर ले जाने वाले नियमों को कौन बनावे, (मतभेद होने से तथा सब को स्वतन्त्रता की इच्छा होने से प्रजा स्वयं नियम बना ले, यह बात असंभव है) और नियमों के न होने से साधारण जनों की सन्मार्ग में प्रवृत्ति कैसे हो, सन्मार्ग में प्रवृत्ति न होने से लोक में उपद्रवादि हलचल मच जाना साधारण बात है ॥

अर्थ—वह राजा अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, कुवेर, वरुण और इन्द्र है[1] ॥ २ ॥

**वालोऽपि नावमन्तव्यो, मनुष्य इति भूमिपः ॥**
**महती देवता ह्येषा, नररूपेण तिष्ठति ॥ ३ ॥**
(मनु० अ० ७ श्लो० ८)

अर्थ—मनुष्य है; ऐसा समझ कर (मनुष्य जान कर) वालक राजा का भी अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि–यह एक वड़ा देव (राजा) मनुष्यरूप से स्थित है ॥ ३ ॥

**एकमेव दहत्यग्नि,र्नरं दुरुपसर्पिणम् ॥**
**कुलं दहति राजाग्निः, सपशुद्रव्यसञ्चयम् ॥ ४ ॥**
(मनु० अध्या० ७ श्लो० ९)

अर्थ—देखो ! जव कोई मनुष्य अग्नि के ऊपर कुचाल चलता है तव वह अग्नि उसी एक मनुष्य को जलाती है परन्तु राजा की जो क्रोधरूपी अग्नि है[2] वह पशु (गाय और घोडे आदि) द्रव्य (सोना और चॉदी आदि) तथा सञ्चय (गेहूँ और चॉवल आदि के संग्रह) के सहित कुल का नाश कर देती है[3] ॥ ४ ॥

---

१–तात्पर्य यह है कि–राजा मे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, कुवेर, वरुण और इन्द्र का गुण वा अश होता है अत वह (राजा) दिव्य गुणो से युक्त तथा निरतिशय तेज और प्रभाव वाला होता है ॥

२–नियमो का उल्लघन कर स्वेच्छानुसार चलने से ही राजा की क्रोधाग्नि उत्पन्न होती है ॥

३–तात्पर्य यह है कि–जव राजा की क्रोधाग्नि प्रवल रूप धारण कर लेती है तव वह किसी के भी रोकने से नहीं रुकती है किन्तु जव वह नियमों का उल्लघन करने वाले मनुष्य के पशु द्रव्य और सर्व सञ्चय के सहित तमाम कुल का नाश कर चुकती है तव ही शान्त होती है ॥

**यस्य प्रसादे पद्मा श्री,र्विजयश्च पराक्रमे ॥**
**मृत्युश्च वसति क्रोधे, सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ५ ॥**
( मनु० अध्या० ७। श्लो० ११ )

अर्थ—जिस की प्रसन्नता में लक्ष्मी तथा शोभा रहती है पराक्रम में विजय रहता है तथा क्रोध में मृत्यु रहती है; वह राजा अवश्य सर्वतेजोमय ( सम्पूर्ण तेजों से युक्त ) है ॥ ५ ॥

**तं यस्तु द्वेष्टि सम्मोहात्, स विनश्यत्यसंशयम् ॥**
**तस्य ह्याशु विनाशाय, राजा प्रकुरुते मनः ॥ ६ ॥**
( मनु० अध्या० ७। श्लो० १२ )

अर्थ—जो पुरुष अज्ञान के वश में हो कर राजा से द्वेष (वैर) करता है वह अवश्य नाश को प्राप्त होता है; क्योंकि– उस ( द्वेष करने वाले ) पुरुष के नाश के लिये राजा शीघ्र ही उपाय करता है ॥ ६ ॥

उक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि–राजा के साथ द्वेष करना अर्थात् उस की आज्ञा को न मानना तथा उस के बनाये हुए नियमों के अनुसार न चलना नाश का कारण है; इस लिये इस लोक तथा पर लोक के सुख के चाहने वाले मनुष्यों को उचित है कि–वे धर्मात्मा राजा से द्वेष न करें किन्तु राजा में श्रद्धा भक्ति रख कर उस के बनाये हुए नियमों के अनुसार सर्वदा चलें और

---

१–प्राचीन इतिहासों के द्वारा इस विषय के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जो कि मनु भगवान् के उक्त कथन की अच्छे प्रकार पुष्टि करते है, इस लिये प्रजाजनों को महर्षि मनु के उक्त वाक्य से अवश्य शिक्षा लेनी चाहिये अर्थात् सर्वथा और सर्वदा राजा की प्रसन्नता के लिये अवश्य प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥

समय पड़ने पर तन मन और धन से राजा की सहायता कर अपनी स्वामिभक्ति का परिचय देते रहें ॥

यह तृतीय अध्याय का राजधर्मवर्णन नामक
पहिला प्रकरण समाप्त हुआ ॥

---

१–देखो! प्राचीन इतिहासो से यह बात निश्चित हो चुकी है कि–जब और जहाँ की प्रजा अपने स्वामी (राजा) में अनुरक्त रही है तथा उस ने राजनियमो का उल्लघन नहीं किया है तब और वहाँ प्रजा को अनेक प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती रही है तथा वह देश भी राजा और प्रजा के सुख और प्रसन्नता के कारण उन्नत दशा को प्राप्त हो चुका है किन्तु इस के विरुद्ध जहाँ की प्रजा ने अपने कर्तव्य का परित्याग कर दिया है अर्थात् अपने राजा की आज्ञा में न चल कर उस के बनाये हुए नियमों का उल्लघन किया है वहाँ की प्रजा को अनेक प्रकार के कष्ट प्राप्त हुए है और वह देश भी अवनतिदशा को प्राप्त हो गया है, बहुत समय की बातो को जाने दीजिये–नवीन उदाहरण को ही लीजिये–देखिये! थोडे ही समय में जापान देश की कितनी उन्नति हुई है और वहाँ राजा तथा प्रजा में (परस्पर) कैसा आनन्द मनाया जा रहा है, केवल इतना ही नहीं किन्तु वह (जापान) वर्तमान में अन्य देशों के लिये शिक्षारूप वा शिक्षादायक हो रहा है और प्रतिदिन उन्नतदशा को प्राप्त होता चला जाता है, इस का कारण केवल यही है कि वहाँ की प्रजा अपने राजा को अपना सच्चा और वास्तविक पिता समझ कर उस के बनाये हुए नियमों का अनुसरण कर रही है तथा अपनी राजभक्ति का सच्चा भाव अपने हृदय में धारण किये हुए है और समय पा कर उस का सच्चा उदाहरण कर दिखलाती है ॥

## द्वितीय प्रकरण—धर्ममहत्ववर्णन ॥

### धर्ममहत्त्वविचार ॥

विचार कर देखने से विदित होता है कि संसार में यदि कोई सारभूत पदार्थ है तो केवल धर्म ही है, क्योंकि सर्वतन्त्रसिद्धान्त से यह बात निश्चित हो चुकी है कि—मनुष्य के जीवन की सफलता अर्थात् लौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति धर्म से ही होती है, इस विषय में सैकड़ों हजारों वेदवाक्य तथा धर्मशास्त्रों के प्रमाण साक्षिरूप में विद्यमान है।

संसार के प्राणियों में जो कुछ विचित्रता तथा तरतमभाव (न्यूनाधिक्य) दीख पड़ता है वह केवल धर्मजन्य है, देखो! एक पुरुष राजा के गृह में उत्पन्न होता है, दूसरा चाण्डालकुल में उत्पन्न होता है, एक प्राणी उत्तम विद्वान् ब्राह्मण के गृह में उत्पन्न होता है, दूसरा शूद्रकुल में उत्पन्न होता है तथा एक सर्व सुखों से युक्त दीख पडता है, दूसरा अनेक प्रकार के दुःखों से पीडित देखा जाता है, इत्यादि विचित्रता संसार में क्यों है केवल धर्मजन्य ही है, तात्पर्य यह है कि—जिस ने पूर्व जन्म में धर्म का उपार्जन किया है वह सर्व सामग्री और सुखों से युक्त होता है, इस के विरुद्ध जिस ने पूर्व भव में धर्म का त्याग कर शास्त्रनिषिद्ध अधम कर्मों का उपार्जन किया है वह अनेक दुःखों का भाजन होता है, इस से सिद्ध है कि—संसार में प्राणियों को जो विचित्र भोग प्राप्त हो रहा है वह केवल धर्मजन्य है।

शास्त्रविहित आत्मा का जो किया हुआ कर्म है उस का नाम धर्म है तथा शास्त्रनिषिद्ध आत्मा का जो किया हुआ कर्म है उस का नाम अधर्म है, इन दोनों में से धर्म सुख का तथा अधर्म दुःख का कारण है, देखो! न्यायशास्त्र में कहा गया है कि—

"धर्मजन्यं सुखम्। अधर्मजन्यं दुःखम्।" अर्थात् सुख धर्म से तथा दुःख अधर्म से उत्पन्न होता है।

उक्त तत्त्व को विचार कर मनुष्यमात्र का यह कर्त्तव्य है कि वह शास्त्रोक्त स्वकर्म का सदा उपार्जन तथा शास्त्रनिषिद्ध कर्म का सर्वदा परित्याग करे, क्योंकि ऐसा करने से ही वह अनभीष्ट (अनिष्ट) सर्व दुःखों से निवृत्त हो कर अभीष्ट (प्रिय) सर्व सुखों को प्राप्त हो सकता है।

अब इस विषय को विशेष न बढ़ा कर (इस विषय में विशेष न लिख कर) संक्षेपतया कुछ प्रमाणों के सहित स्वधर्मत्याग-निषेधविषय में (अपने शास्त्रोक्त कर्त्तव्य का त्याग नहीं करना चाहिये इस विषय में) लिखते है॥

## स्वधर्मत्यागनिषेध॥

पहिले वर्ण और आश्रमों का जो पृथक् २ धर्म कह दिया है उसी के अनुसार चलना वर्ण और आश्रमों का परम कर्त्तव्य है; क्योंकि-जो वर्ण और आश्रम धर्मशास्त्रोक्त अपने २ धर्मों के अनुसार चलते हैं वे इस लोक के सब सुखों को प्राप्त हो कर पर लोक में मुक्तिजन्य अक्षय सुख को प्राप्त होते हैं; किन्तु जो (वर्ण और आश्रम) अपने २ धर्मों का परित्याग कर देते हैं वे इस लोक में अनन्त दुःखों का भोग करते हैं तथा पर लोक में नरक-जन्य अनेक यातनाओं का सहन करते हैं।

वर्त्तमान में जब हम दृष्टि उठा कर देखते हैं तो विदित होता है कि-वर्त्तमान में राजा और प्रजा दोनों ही अपने यथार्थ कर्त्तव्य से बहिर्मुख से हो गये है अर्थात् राजाओं के जो २ धर्म और व्यवहार धर्मशास्त्रों में कहे गये हैं वे ठीक रीति से राजाओं में घटित नहीं होते हैं; इसी प्रकार वर्ण और आश्रमों के जो धर्म और व्यवहार धर्मशास्त्रों में कहे गये हैं वे (धर्म और व्यवहार)

भी वर्णों और आश्रमों में ठीक रीति से नहीं पाये जाते हैं इसी का परिणाम यह प्रत्यक्ष दीख पड़ता है कि-राजा और प्रजा में अनेक प्रकार के क्लेशों का सञ्चार हो रहा है; जिन का वर्णन करने में लेखनी भी काँपती है।

प्राचीन इतिहासवेत्ताओं से यह बात छिपी नहीं है कि-पूर्व काल में जब कि राजा और प्रजाजन अपने २ कर्त्तव्यों में संलग्न थे; भारतवर्ष की क्या अवस्था थी अर्थात् भारतवर्ष में चारों ओर से सुख और सम्पत्ति विराज रही थी, अब वही भारतवर्ष किस अवस्था को प्राप्त हो गया है।

भला विचार कर देखिये तो कि वर्त्तमान में भारतवासी जन कितने सुखी हैं, वा भारतवर्षवर्त्ती कितने गृहों और कुटुम्बों में वास्तविक सुख का सञ्चार है।

कौन नहीं जानता है कि-वर्तमान में भारतवासी जन अधिकांश में आधि और व्याधियों से पीसे जा रहे हैं अर्थात् प्रत्येक गृह और कुटुम्ब को शोक और दुःख ने अपना रङ्गस्थल बना रक्खा है, जिस मे पतिपत्नीकलह, भ्रातृविरोध, गुरुजनद्वेष, चोरी, जारी, मद्यपान, व्याधिपीड़ा, दुर्भिक्ष, महामारी, असत्य, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, तनुक्षीणता, मनोमलिनता और द्यूत आदि के नाटक प्रतिदिन और प्रतिगृह में होते हुए देखे जाते हैं।

ये दुःख क्यों और कहां से उत्पन्न हुए हैं तथा किस प्रकार से मिट सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में आर्षवाक्यानुसार मुक्त कण्ठ से यही कहना पड़ेगा कि-ये दुःख केवल अधर्म से अर्थात् अपने २ धर्मों के त्याग से उत्पन्न हुए हैं तथा अपने २ धर्म का ग्रहण करने से अर्थात् अपने २ धर्म के अनुसार वर्त्ताव करने से मिट सकते हैं, क्योंकि-सर्वतन्त्र सिद्धान्त से यह बात निश्चित है कि-धर्म का फल सुख और अधर्म का फल दुःख है।

इस विषय में अब हम विशेष लिखना अनावश्यक समझते हैं और न इस छोटे से ग्रन्थ में इतना अवकाश है कि-इस विषय में विशेष लिखा जावे क्योंकि यह विषय तो ऐसा है कि-इस पर यदि लेख किया जावे तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ बन जा सकता है, हाँ इतना हम पुनः सूचित करना चाहते हैं कि-जो वर्ण और आश्रमी वास्तविक सुख की अभिलाषा रखते हों उन को उचित है कि-अपने २ धर्मों का त्याग कदापि न करें; क्योंकि-अपने २ धर्मों का त्याग न करना ही सुख का मुख्य हेतु है[1] तथा अपने २ धर्मों का त्याग करना दुःख का परम हेतु है।

इस विषय में धर्मशास्त्रों में बहुत कुछ कहा गया है उस में से कुछ वाक्यों का उल्लेख कर इस विषय को समाप्त किया जावेगा।

देखिये! धर्मशास्त्रों का इस विषय में यह कथन है कि:—

**स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्य,श्च्युता वर्णा ह्यनापदि ॥**
**पापान् संसृत्य संसारान्, प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥१॥**

(मनुस्मृति अ० १२। श्लो० ७०)

अर्थ—चारों वर्ण आपत्तिरहित समय में[2] अपने २ नित्यकर्मों

---

१–देखो! महर्षि कणाद ने कहा है कि–"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (वैशेषिकशा० अ० १। आ० १। सूत्र २) अर्थात् जिस से इस लोक में मनुष्य की उन्नति होती है तथा पर लोक के अतीन्द्रिय सुख की सिद्धि होती है अर्थात् जिस से लौकिक सर्व सुखों के सहित मोक्ष की प्राप्ति होती है उस को धर्म कहते हैं ॥

२–क्योंकि आपत्तिसमय के लिये अन्य भी धर्मों का कथन किया गया है, लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है कि–"आपत्काले मर्यादा नास्ति" अर्थात् आपत्तिसमय में धर्म का ठीक रीति से निर्वाह नहीं होता है किन्तु जो आपत्तिसमय में भी स्वधर्म का निर्वाह कर सकें तो फिर कहना ही क्या है ॥

से पृथक् होने से खोटी योनियों को प्राप्त हो कर वैरियों के दास-भाव को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

**वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो, विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ॥**
**अमेध्यकुणपाशी च, क्षत्रियः कटपूतनः ॥ २ ॥**

( मनु० अ० १२। श्लो० ७१ )

अर्थ—अपने कर्म से भ्रष्ट (पृथक्) हुआ ब्राह्मण मर कर वमन का खाने वाला उल्कामुख (ज्वालामुख) नामक जीव होता है तथा अपने कर्म से भ्रष्ट हुआ क्षत्रिय पुरीष ( मल ) और शव ( मुर्दे ) को खानेवाला कटपूतन ( योनिविशेष ) होता है ॥ २ ॥

**मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो, वैश्यो भवतिपूयभुक् ॥**
**चैलाशकश्च भवति, शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ॥ ३ ॥**

( मनुस्मृ० अ० १२। श्लो० ७२ )

अर्थ—अपने कर्म से भ्रष्ट हुआ वैश्य मर कर पूय ( पीप वा राध ) को खाने वाला मैत्राक्षज्योतिनामक जीव होता है तथा अपने कर्म से भ्रष्ट हुआ शूद्र मर कर वस्त्र की जूँ आदि को खाने वाला चैलाशकनामक जीव होता है ॥ ३ ॥

**धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः ॥**
**तस्माद्धर्म्मो न हन्तव्यो, मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥४॥**

( मनुस्मृ० अध्या० ८। श्लो० १५)

अर्थ—नष्ट ( त्याग ) किया हुआ धर्म ही मनुष्य का नाश कर देता है तथा रक्षा किया हुआ ( यथाविधि किया हुआ ) धर्म ही मनुष्य की रक्षा करता है, इस लिये धर्म को नष्ट न करना चाहिये कि-जिस से नष्ट हुआ धर्म हमारा नाश न करे[1] ॥ ४ ॥

---

१-तात्पर्य यह है कि-धर्म का यथाविधि अनुष्ठान करना चाहिये कि जिस से यथाविधि किया हुआ धर्म मनुष्य को अभीष्ट सुख को प्रदान

तेषु सम्यग्वर्त्तमानो, गच्छत्यमरलोकताम् ॥
यथासङ्कल्पिताँश्चेह, सर्वान् कामान् समश्नुते ॥ ५ ॥

अर्थ—उन शास्त्रोक्त कर्मों में अच्छे प्रकार से वर्त्ताव करने वाला मनुष्य अमरलोकता अर्थात् अविनाशिभाव (मोक्ष) को प्राप्त होता है तथा इस संसार में जिन २ सङ्कल्पों को करता है वे सब पूर्ण होते हैं अर्थात् जिन २ पदार्थों की इच्छा करता है वे सब पदार्थ प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

ऊपर लिखे प्रमाणों से पाठकगण समझ सकते हैं कि-अपने २ धर्मों का त्याग करना कितना अनिष्टफलदायक है तथा अपने २ धर्मों का आचरण करना कितना इष्टफलदायक है; इस लिये सब वर्णों और आश्रमियो को उचित है कि-अपने २ धर्म का परित्याग कदापि न करें ॥

## धर्ममहिमा ॥

श्रुति और स्मृति के कथनानुकूल वर्णों और आश्रमों का जो २ धर्म कह दिया गया है उस का अनुष्ठान चारों वर्णों और आश्रमियों को अवश्य ही करना चाहिये; क्योंकि-अपने २ धर्म के सेवन किये विना मनुष्य का अन्तःकरण (जो कि काम; क्रोध; लोभ; मोह; मद; अभिमान; हिंसा; तृष्णा; राग और द्वेष आदि दुर्गुणों से दूषित हो रहा है) शुद्ध नहीं हो सकता है और अन्तःकरण की शुद्धि के विना मनुष्य को तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता है, तत्त्वज्ञान के विना आत्मतत्त्व की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है तथा आत्मतत्त्व की प्राप्ति के विना मनुष्य का

करे, क्योंकि यह तो निश्चित ही है कि अभीष्ट सुख की प्राप्ति का धर्म के सिवाय दूसरा कोई भी साधन नहीं है, इस विषय में पहिले संक्षेप से कुछ लिख भी चुके हैं ॥

जन्म; जरा और मरणरूप दुःख कभी निवृत्त नहीं होता है, क्योंकि उक्त ( जन्म जरा और मरणरूप ) दुःख की निवृत्ति का आत्मतत्त्व की प्राप्ति के सिवाय दूसरा कोई भी उपाय नहीं है, तात्पर्य यह है कि–जन्म जरा और मृत्यु आदि कराल दुःखो से पार होने के लिये केवल आत्मज्ञान की प्राप्तिरूप ही ओषधि है, जैसा कि–श्रुति में कहा गया है, कि–"तरति शोकमात्मवित्" अर्थात् आत्मज्ञानी पुरुष ही शोक के पार पहुँचता है, इस से सिद्ध है कि–धर्म का सेवन आत्मतत्त्व की प्राप्ति का एक अनन्य ( अद्वितीय ) साधन है।

देखो ! लोकव्यवहार मे भी यह बात देखी जाती है कि–जब कोई साधारण मनुष्य किसी बड़े आदमी राजा वा किसी बडे रईस को अपने गृह वा ग्राम में अपने किसी प्रयोजनविशेष की सिद्धि के लिये बुलाना चाहता है वा बुलाता है तब वह सब से पहिले सब हाट; बाजार; गली कूँचे; और गृह आदि को झडवा आदि कर साफ करा के छिड़काव आदि करा देता है तथा सुगन्धित पुष्पों के गुलदस्तों आदि से विशेष स्थानों को सजा देता है, ऐसा होने पर ही राजा आदि बडे जन प्रसन्नतापूर्वक वहाँ गमन कर उस गृह, ग्राम; वा नगर आदि को सुशोभित करते हैं तथा उत्तम साधनो के द्वारा मुलाकात करने वाले उस पुरुष का लौकिक कार्य सिद्ध कर के उस के मनोरथ को पूर्ण करते हैं, किन्तु जो ऐसा नही करता है उस का मनोरथ पूर्ण नहीं होता है, बस इसी प्रकार जो मनुष्य श्रुति और स्मृति की आज्ञा के अनुसार वर्णाश्रमधर्म के अनुष्ठान से अपने अन्तःकरणरूपी गृह को शुद्ध और निर्मल कर के शम, दम; शील; सन्तोष, मैत्रीभाव; करुणा; उपरति और श्रद्धा आदि उत्तम गुणों से सुसज्जित कर देता है उसी निर्मल आत्मा वाले पुरुष के उसी शुद्ध अन्तःकरणरूपी गृह में वह विश्वव्यापी आनन्दघन शुद्ध सचि-

दानन्द परमात्मा प्रकाशित हो जाता है कि जिस के प्रभाव से यह जीवात्मा सहज में ही जरा और मृत्यु आदि दुःखों से छूट कर नित्य आनन्दरूप अमरपद को प्राप्त हो जाता है ।

आत्मतत्त्व के जिज्ञासु जनों को इस बात का पूर्ण निश्चय रखना चाहिये कि-जिन्हों ने वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म का सेवन नहीं किया है वा जो नियमपूर्वक उक्त धर्म का सेवन नही करते है अथवा नहीं करना चाहते हैं ऐसे मलीन अन्तःकरण वाले आपापन्थी बनावटी भक्त निष्क्रिय पुरुषों के अन्तःकरण में आत्मतत्त्व का ज्ञान वा प्रकाश कदापि नहीं हो सकता है, देखो श्रुति में कहा है कि:—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन ॥
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा वृणुते तनूꣳस्वाम् ॥ १ ॥

( कठोपनिषद् वल्ली २ । मन्त्र २३ )

अर्थ—यह सर्वत्र परिपूर्ण व्यापक आत्मा ( परमेश्वर ) केवल किसी के बतलाने मात्र से अथवा केवल बुद्धि की चतुराई मात्र से लभ्य ( प्राप्त होने के योग्य ) नहीं है और न यह बहुत से शास्त्रकथाश्रवणों से लभ्य है किन्तु जो मनुष्य मन वचन और कर्म से सर्वदा उस ( परमेश्वर ) की आज्ञापालन रूप प्रेम भक्ति से उस का स्वीकार करता है उसी भक्त जन के लिये वह (परमेश्वर) अपने विस्तृत स्वरूप को प्रकाशित करता है[1] ॥ १ ॥

---

१—जिस प्रकार साफ धुले हुए वस्त्र को रंग में डालने से शीघ्र ही उस पर उत्तम प्रकार से रंग चढ जाता है इसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण में स्वयं ही परमात्मा के स्वरूप का प्रकाश हो जाता है ॥

**यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ॥**
**न स तत्पदमाप्नोति सं॰ सारं चाधिगच्छति ॥ २ ॥**

( कठोप० वल्ली ३। मन्त्र ७ )

अर्थ—जिस मनुष्य ने ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों से युक्त हो कर गुरुकुल में प्रवेश कर विद्या की प्राप्ति नहीं की है, जो गृहस्थाश्रम के पाँचों महायज्ञों आदि के अनुष्ठान से रहित है, जो केवल छल और कपट आदि से अपने उदर का पोषण करने वाला है, जो अन्तःकरण का मलीन है, जिस ने शुभ सतोगुणयुक्त तप के सेवन से अथवा वानप्रस्थाश्रम के नियमों से अपने मन को वश में नहीं किया है तथा जो मन और इन्द्रियों का दास है वह मनुष्य उस परम पद ( मोक्ष ) को प्राप्त नहीं हो सकता है; किन्तु वह तो दुःखरूप संसारसागर में ही सदा गोते खाता रहता है ॥ २ ॥

आहा! राजर्षिप्रवर महात्मा भर्तृहरि जी ने क्या ही अच्छा कहा है किः—

**या साधूँश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खान् हितान् द्वेषिणः**
**प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत् क्षणात् ॥**
**तामाराधय सत्क्रियां भगवती भोक्तुं फलं वाञ्छितम् ।**
**हे साधो व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः॥३॥**

( भर्तृहरि शतक नी० श्लो० ९८ )

अर्थ—हे सज्जन लोगो (इस जगत् के प्रत्यक्ष और परोक्ष स्वर्गादि ) मनोवाञ्छित फल के भोगने के लिये उस भगवती सत्क्रिया ( सत्य सनातन वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म ) का सेवन करो जो कि दुष्टों को सा[illegible] को पण्डित, शत्रुओं को मित्र, परोक्ष को

प्रत्यक्ष तथा हालाहल ( विप ) को शीघ्र ही अमृत कर देती है और व्यसनों से विस्तृत गुणों में वृथा आसक्ति मत करो[१] ॥ ३ ॥

देखो मनु भगवान् इस विपय में कहते हैं कि:—

**नामुत्र हि सहायार्थं, पिता माता च तिष्ठतः ॥**
**न पुत्रदारं न ज्ञाति, धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ ४ ॥**

( मनु० अ० ४। श्लो० २३९ )

अर्थ—परलोक में प्राणी की सहायता करने के लिये माता; पिता; पुत्र; स्त्री तथा ज्ञातिजन नहीं रहते हैं; किन्तु परलोक में तो केवल एक धर्म ही सहायता के लिये साथ में रहता है ॥ ४ ॥

**एकः प्रजायते जन्तु,रेक एव प्रलीयते ॥**
**एकोऽनुभुंक्ते सुकृत,मेक एव च दुष्कृतम् ॥ ५ ॥**

( मनु० अ० ४ श्लो० २४० )

अर्थ—देखो ! मनुष्य अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मर जाता है तथा अकेला ही पुण्य और पाप (पुण्य और पाप से उत्पन्न हुए सुख और दुःख ) को भोगता है ॥ ५ ॥

**मृतं शरीरमुत्सृज्य, काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ॥**
**विमुखा बान्धवा यान्ति, धर्मस्तमनुगच्छति ॥ ६ ॥**

( मनु० अ० ४। श्लो० २४१ )

---

१—"व्यसनों से विस्तृत गुणों में वृथा आसक्ति मत करो" इस कथन का तात्पर्य यह है कि—'हम किसी देवता की आराधना से वा अमुक मन्त्र के प्रभाव से इतनी विद्या वा इतनी शूरवीरता का उपार्जन कर लेंगे कि भूमण्डल में हमारी बराबरी करने वाला कोई भी नहीं रहेगा फिर तो हम निष्कण्टक हो कर बेखटके प्राणीमात्र को अपने आधीन कर आनन्द उडावेंगे, इस प्रकार की व्यर्थ चिन्ताओं में मत फँसो किन्तु केवल ईश्वर की आज्ञा का पालन करो इसी से मन कामना पूर्ण होगी ॥

अर्थ—मृत शरीर को काष्ठ और लोष्ठ (मिट्टी के ढेले) के
मान भूमि पर छोड़ कर बान्धवजन विमुख हो कर (मुँह
र कर) गृह को लौट आते हैं परन्तु एक धर्म उस के पीछे
ाता है ॥ ६ ॥

**तस्माद्धर्मं सहायार्थं, नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ॥**
**धर्मेण हि सहायेन, तमस्तरति दुस्तरम् ॥ ७ ॥**

(मनु० अध्या० ४। श्लो० २४२)

---

१-वर्ण और आश्रमों का जो पृथक् २ कर्तव्य बतलाया गया है
सी का नाम धर्म है, इस के सिवाय मनुष्यमात्र के लिये कुछ साधा-
ा कर्तव्य अन्य भी बतलाया गया है उस का भी नाम धर्म है, उस
ा स्वरूप (लक्षण) मनु भगवान् ने इस प्रकार कहा है कि—"धृतिः
मा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो,
शक धर्मलक्षणम्" इस का अर्थ यह है कि—धीरज रखना, क्षमा
रना, दम (मन को वश में करना), अस्तेय (चोरी का परित्याग
रना), शौच (बाहरी तथा भीतरी शुद्धि रखना), इन्द्रियों को जी-
ना, धी (बुद्धि की वृद्धि करना), विद्याध्ययन करना, सत्यभाषण
रना तथा क्रोध का परित्याग करना, ये दश धर्म के लक्षण हैं, इस
सिवाय मनु जी ने ही सब से सरल लक्षण (सब के समझने योग्य)
ह कह दिया है कि—"यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्, परितोषोऽन्तरा-
नः। तत्प्रयत्नेन कुर्वीत, विपरीतन्तु वर्जयेत्" अर्थात् जिस कार्य
करने में आत्मा को सन्तोष हो (आत्मा में भय लज्जा और शङ्का
त्पन्न न हों) उसी कर्म को करना चाहिये (वही धर्म है) तथा विप-
त (जिस के करने में आत्मा को सन्तोष न हो किन्तु आत्मा में भय
ज्जा और शङ्का उत्पन्न हों) कार्य को छोड़ देना चाहिये, मनुष्यों
ो उचित है कि—मनु भगवान् के उक्त वाक्य को सदैव हृदयपटल
र लिखे रहें तथा इसी के अनुसार वर्ताव करें ॥

अर्थ—इस लिये ( मनुष्य को उचित है कि-वह परलोक में अपनी ) सहायता के लिये धीरे २ सर्वदा धर्म का सञ्चय करे क्योंकि-धर्म की ही सहायता से मनुष्य अति कठिन दुःख से पार होता है ॥ ७ ॥

## शिक्षापदावलि ॥

इस लोक में धन्य वे ही पुरुष कहे जा सकते हैं जो कि-अपने कर्त्तव्य; धर्म और नियम आदि के साथ अहर्निश उस सृष्टिकर्त्ता; धर्त्ता; प्राणप्रिय; अलक्ष्य; अखण्ड; सर्वरक्षक तथा भक्तवत्सल परमात्मा का ही भजन; ध्यान; श्रवण और कथन करते हैं[1] तथा दूसरों के लिये उपदेशदाता होते है, क्योंकि-वे ही पुरुष उस ब्रह्म के स्वरूप को यथावत् जान कर नित्यानन्द के भागी होते हैं; किन्तु जो पुरुष माया से मोहित हो कर परब्रह्म की प्रीति से हीन रहते है वे मनुष्य निरन्तर इसी संसारसागर में गोता खाते हुए अनेक दुःखों के भागी होते हैं।

हमारे प्राचीन काल के अनेक महात्मा जन इस विषय में ( जो कि ऊपर लिखा गया है ) अपने यथार्थ अनुभव के द्वारा बहुत कुछ कथन कर गये हैं; यद्यपि उन के कथन का विशेष उल्लेख कर हमें इस ग्रन्थ को विस्तृत नहीं करना है तथापि भाषाछन्दों में जो पूर्वोक्त किन्हीं महात्माओं के अति रसीले शिक्षाप्रद तथा सारगर्भित वाक्य हैं उन ( वाक्यों ) में से कुछ वाक्यों का उल्लेख हम सर्वसाधारण के उपकार के लिये अवश्य

---

१–देखो! मनुष्यजन्मको पा कर जो वेदाध्ययनद्वारा ईश्वराराधन करते हैं उन्हीं का जन्म सफल होता है, क्योंकि ईश्वराराधन से मनुष्य का आत्मा और अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है उस के होने से सत्क्रिया में प्रवृत्ति होती है और उस से सर्व सुखों को प्राप्ति होती है ॥

करते है, आशा है कि-मनुष्यगण उन को पढ़ कर तथा उन के आशय को अपने हृदय में स्थिर कर सद्वर्त्ताव और ईश्वरभक्ति के प्रेमी बन कर अवश्य लाभ उठावेंगे, क्योंकि-ये उन महात्माओं के वाक्य हैं कि जिन्हों ने परब्रह्मज्ञान का रस पान कर के दूसरों के उपकार के लिये ईश्वरमहिमा का गान किया है।

सवैया—

ओमसरूप अपार अलक्ष्य अहै यहि पार वही जन पावै।
सत्य गुरुकुल जाय तहाँ शुभ ज्ञान वढ़ावन चित्त लगावै॥
ज्ञान वढ़ाय समावृत्त होय गृहाश्रम नेम सभाव निभावै।
फेरि नियाहि वनाश्रम नेम यथाविधि जो यति आश्रम जावै

दोहा—

चुकते करि तीनहुँ ऋणनै[1], निर्मल[2] होंहि सुजाण[3]॥
ते भागी उस धाम[4] के, जु है अलखनिर्वाण[5]॥ २॥
अलख निरञ्जन एक है, सुमिरो[6] दिन अरु[7] रैन[8]॥
अष्टपहर[9] रटते रहो, मिटै गर्भ की ऐनं[10]॥ ३॥
अलख भजो रे प्राणियाँ, रचे भूमि आकाश॥
मरै मिटै नहिं सो कभी, है वह सर्वप्रकाश[11]॥ ४॥
अलखभजो रे प्राणियाँ, रचियाँ[12] वेद पुराण॥
जासु[13] ज्ञान अभ्यास से, नर[14] पावैहिं[15] निर्वाण[16]॥ ५॥

---

१–तीनों ऋणो को अर्थात् देवऋण, पितृऋण और ऋषि-ऋण को॥ २–साफ, शुद्ध॥ ३–बुद्धिमान्॥ ४–स्थान॥ ५–अलक्ष्य तथा मुक्तसरूप॥ ६–याद करो॥ ७–और॥ ८–रात॥ ९–आठों पहर॥ १०–डर॥ ११–सब को प्रकाशित करने वाला॥ १२–बनाये॥ १३–जिस के॥ १४–मनुष्य॥ १५–पाते है॥ १६–मुक्ति॥

अलख भजो रे प्राणियाँ, मुनि बाँधी यह टेक[1] ॥
निगमागम[2] रु[3] पुराण में, अलखहि वर्णित[4] एक ॥ ६ ॥
वर्णाश्रम सब देखिया, देखो श्रुतिनिर्धार[5] ॥
एक अलख के नाम तें, उतरहु भव[6] के पार[7] ॥ ७ ॥
एक अलख के नाम को, मोटो है दरबार ॥
सर्वसृष्टिव्यापक[8] वही, देखो वेदविचार[9] ॥ ८ ॥
एक अलख के नाम का, देखहु अविचल[10] न्याय ॥
मिथ्यावादी[11] नरक को, ऋतवादी[12] दिव[13] जाय ॥ ९ ॥
एक अलख के नाम को, मोटो कहिये कोट[14] ॥
अष्ट प्रहर रटते रहो, नहिँ लागै जमचोट[15] ॥ १० ॥
एक अलख के नाम की, बड़ी कचहरी जान ॥
मन इन्द्रिन को वश[16] करो, तज दो विषय कुबान[17] ॥ ११ ॥
एक अलख के नाम की, मोटी कहिये छाप[18] ॥
अष्टप्रहर[19] रटते रहो, छूटैं तीनो ताप[20] ॥ १२ ॥
एक अलख के नाम को, मोटो सिक्को[21] जान ॥
घटे बढ़े सोवे नहीं, परखै[22] ताहि[23] सुजान[24] ॥ १३ ॥
एक अलख के नाम की, पूजा परम[25] प्रमाण ॥

---

१–रीति, मर्यादा ॥ २–वेद और शास्त्र ॥ ३–और ॥ ४–वर्णन किया हुआ ॥ ५–वेद का निश्चय ॥ ६–संसार ॥ ७–किनारे ॥ ८–तमाम संसार में व्यापक ॥ ९–वेद का विचार ॥ १०–न बदलने वाला ॥ ११–झूठ बोलने वाला ॥ १२–सत्य बोलने वाला ॥ १३–स्वर्ग ॥ १४–किला ॥ १५–यमराज की चोट ॥ १६–काबू में ॥ १७–बुरी आदत ॥ १८–मुहर ॥ १९–आठों पहर ॥ २०–दुःख ॥ २१–सिक्का ॥ २२–पहिचानता है ॥ २३–उस को ॥ २४–अक़्लमन्द ॥ २५–अत्यन्त ॥

अष्ट प्रहर करते रहो, जो चाहो निर्वाण ॥ १४ ॥
एक अलख के नाम को मोते मन्दिर जाण ॥
ताको जिह्वा से रटो; अन्तर धारो ध्यान॥ १५ ॥

उसी अलख के नाम की, ज्योती कहिये एक ॥
सब मन्दिर में देख लो, वाके रोम न रेख ॥ १६ ॥

सब मन्दिर में देख लो, बाहर भीतर में एक ॥
निज मन कल्पत फिरत तुम, भज लो ब्रह्म अलेख॥१७॥

एक अलख के नाम को, मोटो है विश्वास ॥
अष्ट प्रहर चौसठ घडी, सुमिरो श्वासोश्वासं ॥ १८ ॥

ग्रासें ग्रास भोजन किये, सहजें पेट भरि जाय ॥
तैसेहि नाम अलेख से, सहज मुक्ति है जाय ॥ १९ ॥

एक अलख के नाम से, सहजेंहि कर्म नसाय ॥
यथा वस्त्र के धारते, सहज शीत मिटि जाय ॥ २० ॥

एक अलख को नाम यह, सर्व जगत को सेठ ॥
तीन लोक जामें बसें, ऐसो मोटो पेट ॥ २१ ॥

एक अलख के नाम की, ऊँची बनी दुकान ॥
जो चाहे सो लीजिये, पूर्ण यह भगवान ॥ २२ ॥

एक अलख के नाम को, मोटो है परिवार ॥
उस का शरणा लीजिये, छूटि जाय यममार ॥ २३ ॥

---

१–मुक्ति ॥ २–भीतर ॥ ३–प्रकाश ॥ ४–रेखा ॥
५–अपने ॥ ६–कल्पना करते फिरते हो ॥ ७–अलक्ष्य ॥
८–भरोसा ॥ ९–याद करो ॥ १०–प्रतिश्वास पर ॥ ११–कौर ॥
१२–आसानी से ॥ १३–आसानी से ही ॥ १४–नष्ट हो जाता है ॥
१५–जैसे ॥ १६–धारण करने से ॥ १७–ससार ॥ १८–परिपूर्ण ॥
१९–कुटुम्ब ॥ २०–सहारा, आश्रय ॥ २१–यमराज की मार ॥

अपर[1] किसहुँ[2] नहिं मारिये, निज[3] मन को ही मार ॥
मन के मारे सब मुवें[4], यथा[5] सैन्यसर्दार[6] ॥ २४ ॥
मन ही का सब पेंच है, मन ही की सब बात ॥
मन ही शत्रू मित्र है, मन हि पिता सुत[7] मात[8] ॥२५॥
मन ही का सब देवता, मन ही का सब भूत ॥
जिन मन को वश में किया, साधू वही सपूत[9] ॥ २६॥
भजन विना भटकत फिरत, रोवत है दिन रात ॥
एक अलख के नाम विन, कोइ न जावे साथ ॥ २७॥
भजन विना किस काम को, मात पिता अरु[10] पूत[11] ॥
एक अलख के नाम विन, मारेंगे जमदूत[12] ॥ २८ ॥
एक अलख के नाम की, बातें हैं सब साँच ॥
तासुं[13] ध्यान लागे रहो, मिटै जु जम की आँच[14] ॥२९॥
हलकारो वहि जानिये, रखे अलख सों हेत ॥
एक अलख के नाम विन, क्या गाता है रेत[15] ॥ ३०॥
चार दिनन की चाँदनी, यह सम्पति[16] संसार ॥
यामे जो मोहित भये, ते पहुँचे यमद्वार[17] ॥ ३१ ॥
यम को त्रास[18] जु जीव को, होत अनेक प्रकार ॥
तहाँ[19] सङ्ग नहिं जा सकै, सुत[20] दारा[21] परिवार[22] ॥ ३२ ॥

---

१–दूसरे ॥ २–किसी को भी ॥ ३–अपने ॥ ४–मर जाते हैं ॥ ५–जैसे ॥ ६–सेना का सर्दार ॥ ७–पुत्र ॥ ८–माता ॥ ९–सुपुत्र ॥ १०–और ॥ ११–पुत्र ॥ १२–यमराज के दूत ॥ १३–उस के ॥ १४–अग्नि, अर्थात् ताप ॥ १५–धूल, खाक ॥ १६–दौलत ॥ १७–यमराज के दरवाज़े पर ॥ १८–भय, डर ॥ १९–वहा, अर्थात् परलोक में ॥ २०–पुत्र ॥ २१–स्त्री ॥ २२–कुटुम्ब ॥

ओंब्रह्म[1] निष्पार[2] घट, मायानाशक[3] सार[4] ॥
अज्ञान मोह मदादिते[5] हीन[6] रचक[7] संसार ॥ ३३ ॥
तीन लोक व्यापक सदा, सब को है आधार[8] ॥
घटवासी[9] वहि[10] एक है, खोजो ताहि[11] विचार ॥ ३४ ॥
त्यागि[12] सकल[13] अज्ञान को, जग मे फँसो न मीत[14] ॥
स्वयंप्रकाशहि[15] निज[16] हृदय, देखहु परम[17] पुनीत[18] ॥ ३५ ॥
भूत प्रेत सब त्यागि के, एक भजो हरि नाम ॥
मुक्ति लहोगे[19] ताहि से, कौडी लगे न दाम ॥ ३६ ॥
सहजसहज[20] रटिबो करो, जो चाहो सुखधाम[21] ॥
एक अलख के नाम से, पूरण होइहि[22] काम[23] ॥ ३७ ॥
सुख को मण्डन[24] साँचे[25] है, साँच मिलत है साँच[26] ॥
काम क्रोध को मारि के, पावहुगे तुम साँच ॥ ३८ ॥
मान[27] बड़ाई त्यागि के, करहु ब्रह्म को ध्यान ॥
साँस साँस सुमिरन[28] करो, जो चाहो निर्वान[29] ॥ ३९ ॥
जो चाहो शिवधाम[30] सुख, फल की छोड़हु आश[31] ॥
जानहु सकल[32] समागममाहिँ[33], एक मोह को पाँश[34] ॥४०॥

---

१–ओंकारनामक ईश्वर ॥ २–अपार, अर्थात् जिस का पार (अन्त) नहीं है ॥ ३–माया का नाश करने वाला ॥ ४–तत्त्वस्वरूप ॥ ५–मद आदि से ॥ ६–रहित ॥ ७–रचने वाला ॥ ८–सहारा ॥ ९–हृदय में निवास करने वाला ॥ १०–वही ॥ ११–उस को ॥ १२–छोड कर ॥ १३–तमाम ॥ १४–मित्र ॥ १५–स्वयमकाशरूप ईश्वर को ॥ १६–अपने ॥ १७–अत्यन्त ॥ १८–पवित्र ॥ १९–पाओगे ॥ २०–धीरे२॥ २१–सुख का स्थान, अर्थात् स्वर्ग ॥ २२–होगा ॥ २३–कार्य, अभिलाषा ॥ २४–भूषण, जेवर ॥ २५–सत्य ॥ २६–ईश्वर ॥ २७–अभिमान ॥ २८–स्मरण ॥ २९–मुक्ति ॥ ३०–सुख का स्थान, मुक्ति ॥ ३१–आशा ॥ ३२–तमाम ॥ ३३–सग को ॥ ३४–फन्दा ॥

**सवैया—**

वेदपुराण न जानि सकैं कवि देवहु[1] पण्डित पार[2] न पावै।
योगि जती नहिँ जानि सकै नाहिँ बुद्धिविचक्षण[3] भेदको पावै
लाख करोड हु वर्ष किये तप ध्यान धरे उर[4] मैं नाहिँ आवै।
होय चिदानंदबोध[5] जवै तव ब्रह्मसुधा[6] उरं[7] माहिँ लखावै ४१

**शिखरिणी—**

चला[8] लक्ष्मी हैगी नहिँ थिर रहे काहु[9] जन पै।
भये केते भागी गत[10] युगन माहीं सुजन पै[11] ॥
नहीं काहू के भी यह गमन कीन्हों सुसँग मैं।
तजो यातैं याकी सुपनसदृशी[12] भूति[13] मन मैं॥४२॥
प्रतापी मान्धाता सतयुग भयो भूपण[14]मही।
भये रामौ त्रेता जिन गृह सुचेरी[15] श्रिय[16] रही॥
भये औरौ केते नृपति शुभ भूती जिन लही[17]।
सबै वे तो नासे चपल[18] कमला[19] या यहिँ रही॥४३॥
चला लक्ष्मी प्राणा चल विचल आयू यह कही।
चला प्रासादादी[20] चल विचल यौवन् यह सही[21]॥
चला सर्वा माया जगत जन बुद्धी जिहि[22] गही[23]।
अपारे संसारे जगजन सुसाथी धरम ही॥४४॥
दोहा-त्यागि धर्मपथ जगजलधि[24], बूडे बहे अनेक॥
या तें पकड़हु धर्मपथ, गहौ याहि की टेक[25]॥४५॥

---

१—देवता भी॥ २—अन्त॥ ३—चतुर बुद्धि वाले॥ ४—हृदय॥ ५—चित् और आनन्द स्वरूप का ज्ञान॥ ६—ब्रह्मरूपी अमृत॥ ७—मन॥ ८—चचल, अस्थिर॥ ९—किसी॥ १०—बीते हुए॥ ११—लेकिन॥ १२—स्वप्न के तुल्य॥ १३—ऐश्वर्य, सम्पत्ति॥ १४—पृथिवी का भूषण॥ १५—दासी॥ १६—लक्ष्मी, दौलत॥ १७—पाई॥ १८—चञ्चल, अस्थिर॥ १९—लक्ष्मी॥ २०—महल आदि॥ २१—अवश्य॥ २२—जिस ने॥ २३—पकडी, वश में की॥ २४—ससाररूपी समुद्र॥ २५—सहारा, आश्रय॥

## उपसहार ॥

आहा ! अनेकानेक धन्यवाद के भाजन वे मनु आदि महर्षि हैं कि-जिन्हों ने अज्ञान की गाढ़ निद्रा से अचेत हुए मनुष्यों को सचेत ( सावधान ) करने के लिये कैसे उत्तम और निर्भ्रान्त वाक्यों का प्रयोग किया है, क्यो न करते वे महर्षि तो त्रिकालदर्शी; निर्भ्रान्त; सत्योपदेष्टा; विशुद्धात्मा तथा परोपकारी थे, हम सब को सत्योपदेश दे कर वे महर्षि तो अपने ऋण से मुक्त हो गये; अब हमारा यह कर्त्तव्य है कि-उन के वाक्यों को पढ़ कर विचार कर तथा उन्हें हितकारक जान कर उन्हीं के उपदेशानुसार वर्त्ताव कर अपने जीवन को सफल करें तथा उक्त महर्षियों के कृतज्ञ बनें ।

देखो ! उक्त महर्षियो ने इस बात पर बहुत ही ज़ोर दिया है कि-यह संसार और संसारवर्त्ती सर्व पदार्थ मोहजनक होने से बन्धन के हेतु हैं इस लिये यथाशक्य इन का सग छोड देना चाहिये तथा वैराग्य के द्वारा अन्तःकरण के मल को धोकर उस में परब्रह्म का चिन्तन करना चाहिये कि-जिस से मुक्तिजन्य अक्षय सुख प्राप्त हो ।

यदि हम लोग बुद्धिमत्ता के साथ सूक्ष्म विचार से महात्माओं के उक्त प्रबल उपदेश को विचारें तो हम को अच्छे प्रकार से इस बात का निश्चय हो सकता है कि ससारस्थ सर्व कुटुम्बी और सम्बन्धी जन अपने २ मतलब के ही सगी हैं अर्थात् इस संसार में जो कुछ प्रीति सम्बन्ध और मेल मुलाकात आदि हैं वह सब स्वार्थसिद्धि ही के लिये है परन्तु क्या किया जावे "पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्" अर्थात् यह संसार तो मोह से उत्पन्न हुई प्रमादरूपी मदिरा ( शराब ) को पी कर उन्मत्त ( मतवाला ) हो रहा है, जब यह दशा है तो भला सोचने की

बात है कि-मिथ्या मोहरूप अज्ञान के वशीभूत मनुष्य अपने सच्चे हितकारक मित्र तथा हानिकारक शत्रु को कैसे यथावत् जान सकता है, इसी अज्ञान का परिणाम यह होता है कि-मनुष्य विषमिश्रित सुस्वादु मिष्टान्न के समान इन्द्रियजन्य भोगों की असलियत को न जान कर उन के लोभ में फँस कर स्वार्थी कुटुम्बियों को भी अपना उपकारक मान कर साँसारिक मोहजाल में फँस कर मानुषी जन्म के अमूल्य समय को वृथा ही नष्ट कर लौकिक तथा पारलौकिक वास्तविक सुख से वञ्चित हो जाता है; यह केवल मोहजाल की ही अपार महिमा है।

इस विषय में एक अति उपयोगी प्राचीन दृष्टान्त सुना जाता है; जिस का हम यहाँ पर सर्व साधारण के ज्ञान के लिये उल्लेख करते हैं; आशा है कि-इस के पढ़ने से जिज्ञासु जनों को इस नश्वर (नाशवान्) जगत् से उपराम तथा पारमार्थिक सुख के अन्वेषण की भावना अवश्य उत्पन्न होगी, क्योंकि-यह बहुत ही शिक्षाप्रद दृष्टान्त है।

पूर्वकाल में किसी नगर में एक साहूकार निवास करता था; जिस के केवल एक पुत्र था पुत्र की स्त्री और सेठानी को मिला कर गृह में कुल चार मनुष्य थे, साहूकार का पुत्र-सुशील; धर्मात्मा; परोपकारी तथा सांसारिक व्यवहार में अति चतुर था अत एव वह माता पिता और अपनी स्त्री को अति प्रिय था अर्थात् सब उस से अत्यन्त प्रेम करते और अपने प्राणों के तुल्य समझते थे, इन के सिवाय वह अपने सद्गुणों के कारण अपने अन्य संबन्धियों को भी बहुत ही प्यारा था।

दैवयोग से कभी उस नगर में कहीं से घूमते फिरते एक संन्यासी महात्मा आ गये तथा नगर के बाहर एक अति एकान्त स्थान में विराजमान हो गये, उन की महिमा को सुन कर उन

के दर्शन के लिये नगरवासी जन उन के पास जाने लगे, सेठ के पुत्र को भी यह समाचार विदित हुआ अतः वह भी समय पा कर उन महात्मा के पास जाने लगा।

महात्मा बड़े योगी और विद्वान् थे अतः साधारण जन उन की महिमा को क्या समझ सकते थे; निदान दस पाँच दिन तक हल्लागुल्ला कर के अपने २ घरों में बैठ रहे परन्तु वह साहूकार का पुत्र बड़ा विचक्षण था; उस ने महात्मा को तत्त्व के द्वारा खूब पहिचान लिया अतः वह उन की सेवा में प्रतिसमय हाज़िर रहने लगा तथा यथायोग्य उन की शुश्रूषा करने लगा; उस की शुश्रूषा से प्रसन्न हो कर महात्मा ने उसे योगसाधन की विधि को बतला कर समाधि चढा लेने की क्रिया को बतला दिया।

एक दिन वह साहूकार का पुत्र अपने गृहजनों में से किसी को विना ही सूचित किये ( कि मैं अमुक स्थान को जाता हूं ) महात्मा के पास चला गया, वहाँ ज्ञानोपदेश तथा ब्रह्मविचार सम्बन्धिनी चर्चा करता हुआ रात्रि के दश बजे तक अपने घर नहीं गया, रात्रि के दश बजे तक उस के न आने से उस के माता पिता और स्त्री तीनों ही घबड़ाने लगे तथा हाट; बाजार; गली; कूँचों और पते के स्थानों में उस का अन्वेषण होने लगा परन्तु कहीं भी उस का पता नहीं लगा, अब क्या था प्रेम से विह्वल हो कर तीनों ही दाढ़ मार २ कर रोने लगे, उन के आर्तराव को सुन कर उन के सम्बन्धी और सेवक आदि सब इकट्ठे हो गये और जहाँ तहाँ खोज करने लगे, उन्हीं में से कोई मनुष्य महात्मा के स्थान पर भी जा पहुँचा और साहूकार के पुत्र को वहाँ पा कर कहने लगा कि-"अहो बड़े शोक की बात है कि-आप तो यहाँ साधु के पास आनन्द से बैठे हुए वैकुण्ठधाम का खोज कर रहे हैं और घर में आप के माता पिता और स्त्री आप के वियोग-जनित ताप से सन्तप्त हो कर अपने प्राणों का त्याग करने को

यत हो रहे है" उस मनुष्य की ऊटपटांग बात को सुन कर हात्मा जी बोले कि-"देखो भाई! प्राणों का त्याग कर देना छ ठट्ठे की बात नहीं है, प्रहर वा छः घड़ी के वियोग से तो या किन्तु आजन्म वियोग होने से भी प्राणों का त्याग कर देना हीं हो सकता है, यह मिथ्या फन तो स्वार्थी सांसारिक जनों में देखलाने मात्र का हुआ करता है" महात्मा जी के उक्त वचन को सुन कर वह मनुष्य कहने लगा कि-"महाराज! आप साधु हैं; आप के कोई भी आगे पीछे नही है इसी लिये आप को जगत् के व्यवहार का ज्ञान नही है; किन्तु जिन के आगे पीछे कुडुम्बी और सम्बन्धी जन होते है वे ही संसार के व्यवहार और मोह आदि को जानते है, देखिये! यदि यह सेठ का पुत्र आज की रात्रि भर अपने माता पिता और स्त्री से न मिले और इस के माता पिता तथा स्त्री को इस की खबर न मिले तो वे तीनों प्रीति के कारण अवश्य ही अपने प्राणो का त्याग कर दें" इस वचन को सुन कर महात्मा जी उस साहूकार के पुत्र को एकान्त में ले जा कर उस से बोले कि-"हे शिष्य! यदि तुझ को इस जगत् के मिथ्या प्रपञ्च की परीक्षा करनी हो तो तू हमारे वचन का विश्वास कर अभी अपने घर को चला जा और 'मेरा पेट दूखता है' ऐसा वहाना कर भूमि पर गिर पड़, थोडी देर तक छटपटा कर समाधि को चढ़ा ले, मै आ कर तेरी समाधि को उतारूँगा, जब मै तेरी समाधि को उतार दूँ तब ही तू चेष्टा करना; इस से पहिले कोई कितना ही चिल्लावे वा पुकारे तो भी तू चेष्टा न करना, ऐसा करने से मै तुझ को जगत् के प्रपञ्च के मिथ्यात्व को तथा कुडुम्नी जनों के मिथ्या प्रेम को अच्छी तरह से दिखला दूँगा" मुनि की आज्ञा मान कर उस साहूकार के पुत्र ने वैसा ही किया अर्थात् अपने घर जा कर थोडी देर के बाद पेट के दूखने का वहाना कर हाय २ करने लगा और भूमि पर गिर कर छटपटाने

लगा, उस की व्यथा को सुन कर तमाम कुटुम्बी जन इकट्ठे हो गये और डाक्टर साहब; वैद्यराज तथा ज्योतिषी जी भी बुलाये गये, सब ने अपना २ हुनर दिखाया तथा व्यथा की निवृत्ति के लिये प्रयत्न किया परन्तु किसी का भी कोई उपाय नहीं चला (उपाय चलता कैसे, क्या बहाने का भी कुछ उपाय हो सकता है?) और साहूकार का पुत्र भूमि पर थोड़ी देर तक छटपटा कर समाधि चढ़ा गया तथा समाधि के चढ़ा जाने से प्राण वायु की चेष्टा से शून्य हो गया, अब क्या विलम्ब था उस की स्त्री माता पिता तथा कुटुम्बी जन शिर को पीट २ कर रोने लगे और अडोस पडोस चारों ओर अत्यन्त कोलाहल मच गया, इस के पश्चात् वे योगी महात्मा उस सेठ के द्वार पर आ कर बोले कि–"भाई! इस घर में किस बात का कोलाहल हो रहा है" उन के वचन को सुन कर लोगो ने कहा कि–"महाराज! इस सेठ का इकलौता पुत्र मर गया है; इस लिये घर में रोदन हो रहा है" यह सुन कर महात्मा जी बोले कि–"भाइयो! सेठ का पुत्र कैसे मर गया है? थोडा हम को भी तो दिखलाओ" मुनि जी के वचन को सुन कर कुछ लोग उन्हें भीतर ले गये और आसन पर बिठला दिया, मुनि ने समाधि में स्थित अपने शिष्य को देख कर लोगों से कहा कि–"तुम लोग रोदन मत करो; मैं अभी इस का इलाज करता हूँ; तुम अभी एक सेर दूध और आध पाव शर्करा (खाँड) ले आओ" मुनि जी के वचन को सुनते ही लोग दौड़ कर दूध और शर्करा को ले आये, महात्मा जी ने दूध को ले कर उस में वह शर्करा और अपनी धूनी की थोड़ी विभूति मिला दी तथा उसे मन्त्र कर मृतक शरीर पर उतारा कर (वार कर) कहा कि–"लो सेठ जी! इस दूध को पी लो, इस के पीने से तुम तो मर जाओगे और तुम्हारा पुत्र जी उठेगा" अपनी मृत्यु का नाम सुन कर सेठ जी पुत्रशोक का रोना तो भूल गये और कहने

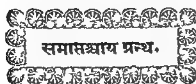
लगे कि-"महाराज ! मैं तो दूध को नहीं पी सकता हूँ; क्योंकि मरे के बदले में कोई नहीं मरता है" इसी प्रकार पूँछने से उस की माता और स्त्री ने भी वही (सेठ जीवाला) जबाब दिया, तात्पर्य यह है कि-उस लड़के के बदले में मरना किसी ने भी स्वीकार नहीं किया, इस पर महात्मा जी बोले कि-"यदि इस के बदले में कोई नहीं मरता है तो इस दूध को मैं पीता हूँ, इस के पीने से मैं मर जाऊँगा और तुम्हारा पुत्र जीवित हो जावेगा" महात्मा जी के वचन को सुन कर सब लोग अत्यन्त प्रसन्न हो गये और कहने लगे कि-"महात्मा जी ! आप को धन्य है जो आप परोपकार के लिये अपने शरीर का त्याग करते हैं" साधु जी ने उस दूध को पी लिया तथा बालक की समाधि को उतार दिया, बालक सावधान हो कर उठ बैठा और कहने लगा कि-"महाराज ! इन सबों में से मेरा हित करने वाला प्रिय बन्धु कौन सा है ?" बालक के वचन को सुन कर महात्मा जी ने कहा कि-"इन सबों में से तेरा हित करने वाला प्रिय बन्धु कोई भी नहीं है, किन्तु ये सब तो अपनी २ स्वार्थसिद्धि के लिये यहाँ एकत्रित हुए हैं; अर्थात् जिन को तू अपना हितकारक प्रिय बन्धु मानता है ये सब अनेक प्रकार की हानि पहुँचाने वाले तेरे शत्रु हैं; इन सब को अपना बन्धु समझना बड़ी भूल है" महात्मा जी के उक्त कथन को सुन कर वह बालक (सेठ का पुत्र) कहने लगा कि-महाराज ! यदि ये मेरे सम्बन्धी मुझे सुख देने वाले और मेरे हितकारक नहीं हैं तो इन के सिवाय मुझे सर्व सुख देने वाला मेरा प्रिय बन्धु कौन है और वह कहाँ रहता है, उस की प्राप्ति कैसे हो सकती है तथा उस की प्राप्ति होने से मुझे क्या लाभ होगा ?" बालक के इस प्रश्न को सुन कर महात्मा जी बोले कि-"तुझ को सर्व प्रकार के सुखों का देने वाला तेरा प्रिय बन्धु परमेश्वर है, वह (परमेश्वर) तेरा साक्षीरूप हो कर सर्वदा तेरे हृदय-

स्थान में रहता है, उस की प्राप्ति योग तथा ज्ञान से होती है और उस की प्राप्ति होने से सब प्रकार के दुःखों की निवृत्तिरूप मोक्ष का लाभ होता है" महात्मा जी के उक्त कथन को सुन कर उसी समय वह सेठ का पुत्र स्वार्थी तथा झूठे सम्बन्धियों के संग को छोड कर एकान्त निर्जन स्थान में जा कर रहने लगा और पहिले सीखे हुए योगविधान के द्वारा अपने हृदयस्थल में विराजमान परमेश्वर को पहिचानने लगा, परमेश्वर के स्वरूप को पहिचान कर कुछ काल के पश्चात् अपने अनित्य शरीर का त्याग कर सर्वविध दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष को प्राप्त हो गया।

इस दृष्टान्त के द्वारा शिक्षा को प्राप्त कर सर्व सुजनों को भी योग्य है कि–वे स्वार्थी कुटुम्बियों में आसक्त हो कर अपने अमूल्य शरीर को वृथा ही नष्ट न करें, क्योंकि–यह मनुष्यशरीर अति कठिन तपश्चर्या आदि से प्राप्त होता है इस का वारवार प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है ॥

यह तृतीय अध्याय का धर्ममहत्ववर्णन नामक दूसरा
प्रकरण समाप्त हुआ ॥

इति श्रीस्वामिब्रह्मानन्दगिरिनिर्मिते वर्णाश्रमधर्मप्रकाशे तृतीयोऽध्यायः ॥





# श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी गिरि महाराज का संक्षिप्त जीवनचरित्र ॥

सुजनो! आज जिस छोटे से ग्रन्थरत्न को आप की सेवा में भेंट करने को मैं उपस्थित हुआ हूँ वह उक्त नामाङ्कित श्री स्वामी जी महाराज का ही बनाया हुआ है, ग्रन्थ कैसा है; इस विषय में मैं अपनी ओर से लिखना अनावश्यक समझता हूँ; क्योंकि-इस बात का अनुभव इस ग्रन्थ के पाठक महोदयों को स्वतः ही हो जावेगा।

प्रायः देखा गया है कि-महात्माओं के रचित ग्रन्थरत्नों को देख कर विचारशील सुजन ग्रन्थनिर्माता महात्माओं के जीवन-चरित्र के भी जानने की अवश्य उत्कण्ठा किया करते हैं; यही विचार कर मैं इस ग्रन्थरत्न के प्रकाशन के साथ ग्रन्थनिर्माता उक्त महात्मा का संक्षिप्त जीवनचरित्र भी प्रकाशित करता हूँ, आशा है कि-सुजन इस का अवलोकन कर प्रमुदित होंगे:—

स्वामी जी महाराज की जन्मभूमि ज़िला आगरे के अन्तर्गत कलासेवली प्रदेशस्थ नगरकोट ग्राम है, इन के पूज्य पिता सनाढ्य ब्राह्मण थे और उन का नाम श्री पण्डित काशीराम जी उपाध्याय था तथा इन की श्रीमती माता का नाम तुलसा देवी था।

स्वामी जी महाराज का जन्म संवत् १८९८ विक्रमीय के माघ मास में मकर संक्रान्ति के दिन हुआ था, इन का जन्मसम्बन्धी

नामधेय मनीराम था तथा ये अपने गृह में द्वितीय पुत्र थे अर्थात् इन के एक ज्येष्ठ भ्राता और भी था जिस का नाम बलदेव प्रसाद था।

गृह मे छोटे पुत्र होने के कारण माता पिता का इन पर अत्यन्त वात्सल्य था; विशेष कर माता का तो ऐसा प्रेम था कि-उन्हें घड़ी भर के लिये भी इन का वियोग सह्य नही होता था; परन्तु इन के चित्त में पूर्वकर्मानुसार स्वभाव से ही वैराग्य था अतः ये पॉच छः वर्ष की ही अवस्था से कहीं एकान्त स्थान में जा कर बैठ जाया करते थे, कभी २ विलम्ब से आने के कारण इन का अन्वेषण करने में भी माता पिता को प्रयास करना पड़ता था, सात आठ वर्ष की अवस्था होने पर तो इन का उक्त अभ्यास और भी बढने लगा अर्थात् ये एकान्त स्थान में बैठ कर कई २ घंटो को बिताने लगे, घर में आने पर जब माता पिता इन को कुछ कह कर समझाते थे तथा घंटों तक एकान्त स्थान में बैठने से मना करते थे तब ये उन्हें उत्तर देते थे कि-"आप की आज्ञा का मै उल्लंघन तो नहीं करना चाहता हूँ; परन्तु मै क्या करूँ; मुझे एकान्त स्थान में बैठने से अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है और मेरी चित्तवृत्ति शान्त हो कर ईश्वरनिष्ठ होने लगती है, इस लिये आप लोग कृपापूर्वक मुझे गृहस्थाश्रम से निकल कर वैराग्य लेने की आज्ञा देवें तो मै आप का बड़ा उपकार मानूगा,, इस पर इन की माता कहा करती कि-"बेटा! मेरे जीते तो तुम ऐसा मत करना; मेरे मरने के बाद जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करना" माता के इस उत्तर को सुन कर ये मन ही मन में खेद कर चुप हो जाते थे, यों ही होते २ इन की अवस्था दश वा ग्यारह वर्ष की हो गई, माता पिता ने यह समझ कर कि-किसी प्रकार से इन का चित्त वैराग्य से हटाना चाहिये; इन का विवाह करना चाहा; परन्तु इन्हों ने उस को स्वीकार न किया और माता पिता से यह

कुछ भोजनादि से हमारा आतिथ्य करो" यह सुन कर बंगाली बाबू ने इन से कहा कि–"ईश्वर ने हाथ पैर और सब शरीर तो ठीक दिया है फिर नौकरी कर के क्यों नहीं खाते हो" इस पर इन्हों ने कहा कि–"नौकरी तो ईश्वर की करते हैं फिर दूसरे किस की नौकरी करें" इस पर पुनः बंगाली बाबू ने कहा कि–"संसार में जिस के पास द्रव्य है वही बड़ा और ईश्वर का अंश माना जाता है; अतः जिस के पास द्रव्य हो उस की नौकरी करना भी ईश्वर की ही नौकरी करना कहा जा सकता है, अस्तु हम चाहते हैं कि तुम कुछ काल तक हमारे यहाँ नौकरी करो; ऐसा होने से हमें बड़ी प्रसन्नता होगी" यह सुन कर इन्हों ने कहा कि–"यदि तुम को अपने अन्तःकरण में ईश्वरांश होने का निश्चय है और तुम्हें हमारी नौकरी से प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है तो लो हम तुम्हारी नौकरी को स्वीकार करते हैं" उक्त वार्त्तालाप होने के पश्चात् स्वामी जी महाराज ने बंगाली बाबू के कथनानुसार उन की नौकरी कर ली, बंगाली बाबू भी यद्यपि कुछ अभिमानी तो थे परन्तु थे कुछ समझदार, अतः स्वामी जी महाराज के कुछ ही दिन के वर्त्ताव से वे समझ गये कि–यह भी कोई सहृदय; गम्भीर और दूरदर्शी पुरुष ही है; अतः वे इन के साथ सुजनता और प्रेम का वर्त्ताव करने लगे और इन को नाममात्र का नौकर समझने लगे।

कुछ समय के पश्चात् किसी की सूचना पाने से स्वामी जी महाराज के सम्बन्धी जन वहीं आ कर इन से घर लौटने तथा विवाह कर गृहस्थाश्रम में रहने के लिये स्वयं भी अत्यन्त आग्रह करने लगे तथा बंगाली बाबू से भी कह कर समझवाने लगे, बंगाली बाबू ने भी उन लोगों के कथनानुसार अत्यन्त विनयपूर्वक इन से बहुत कुछ प्रार्थना की तथा यह भी कहा कि–"आप ने हमारा अन्नोदक भी खाया पिया है; आप को हमारी बात अवश्य

माननी चाहिये" इस कथन को सुन कर इन्हों ने कहा कि—"घर लौट जाना और विवाह कर गृहस्थाश्रम में रहना उस को आवश्यक है जिस का चित्त गृहस्थाश्रम की ओर हो, मेरे चित्त में तो स्वभाव से ही वैराग्य है अर्थात् गृहस्थाश्रम में मेरी प्रीति नहीं है; तो भला मेरे गृह लौट जाने और विवाह करने से क्या प्रयोजन है ?" इस बात को सुन कर बंगाली बाबू ने पुनः अत्यन्त विनय और आग्रहपूर्वक इन से कहा कि—"बेशक आप का कहना ठीक है; परन्तु यदि आप कुछ भी मेरा और मेरे अन्नोदक का लिहाज करते हैं तो इस समय मेरे इस कथन को मान लीजिये, यदि आप के चित्त में सच्चा वैराग्य होगा तो ईश्वर उसे कालान्तर में पूर्ण करेगा" निदान सब लोगों का अत्यन्त आग्रह देख स्वामी जी महाराज उन के उक्त कथन को स्वीकार कर गृह पर वापिस आ गये और विवाह भी कर लिया, इस समय स्वामी जी महाराज की अवस्था अनुमान २६ वर्ष की थी, विवाह करने के पश्चात् तीन ही वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहने के अनन्तर रोगग्रस्त हो कर इन की पत्नी का देहान्त हो गया, इस बात को देख सब लोग विस्मित हो कर सोचने लगे कि—इन के चित्त में वैराग्य तो पूर्ण और सच्चा प्रतीत होता है, क्योंकि विधाता ने इन की इच्छा को पूर्ण करने के लिये हम सब के परिश्रम को व्यर्थ कर इन के लिये पुनः उपर्युक्त उपाय प्रस्तुत कर दिया है।

स्त्री का देहान्त हो जाने पर स्वामी जी महाराज ने पुनः सम्बन्धी जनों से कहा कि—"अब तो आप लोग मुझे स्वकार्य करने की अनुमति देवें, क्योंकि समय निरर्थक जा रहा है" इन की उक्त बात को सुन कर लोगों ने पुनः आग्रह कर इन्हें इच्छित कार्य न करने दिया और दो वर्ष इसी झगडे में यो ही बीत गये, पीछे संवत् १९२९ विक्रमीय में सम्बन्धी जनो ने आग्रह और प्रेरणा कर इन का पुनः दूसरा विवाह कर दिया; परन्तु इस से क्या होता

है, क्या शुद्धान्तःकरण की सच्ची अभिलाषा कहीं व्यर्थ जाती है; कभी नही, निदान थोड़े समय के पश्चात् इन की उस स्त्री का भी देहान्त हो गया और समय आने से इन के माता पिता भी परलोक को सिधार गये, तब तो ये माता पिता आदि के और्ध्वदैहिक कार्य से निवृत्त हो कर सर्वतोभाव से स्वकार्यसाधन के लिये उद्युक्त हो गये, बुद्धिमान् जानते ही हैं कि-जब कोई कार्य होने वाला होता है तब उस की सब सामग्री प्रयास के विना ही प्रस्तुत हो जाती है, इसी नियम के अनुसार स्वामी जी महाराज की भेंट उसी ग्राम के समीपवर्त्ती गुरुद्वारे में रहने वाले एक श्री जानकी दास जी महाराज के शिष्य; बालब्रह्मचारी; रामानन्दी साधु परशुरामदास जी से हो गई; जो कि-इन्हीं के सजातीय अर्थात् सनाढ्य ब्राह्मण थे, उन के कहने सुनने से स्वामी जी महाराज ने उन के शिष्य हो कर वैराग्य लेना स्वीकार किया, अतः उन्हों ने इन को अपना शिष्य बना कर इन का नाम सियारामदास रख दिया, तब से ले कर अनुमान ४० वर्ष की अवस्था तक अर्थात् संवत् १९३८ तक स्वामी जी महाराज उक्त साधु जी के ही पास रहे; तदनन्तर उक्त वैराग्यदशा में ही १४ वर्ष तक (संवत् १९३९ से १९५२ तक) इन्हों ने धूनि का तपन किया।

संवत् १९५४ में स्वामी जी महाराज घूमते फिरते कोलाद जी के मेले के समय कार्तिक मास में यहाँ (बीकानेर नगर में) पधारे तथा यहाँ अलखमठ में विराजमान श्री स्वामी आत्मानन्द जी गिरि संन्यासी से मिले; जो कि-श्री स्वामी लछीगिरि जी महाराज के शिष्य और श्री स्वामी लालगिरि जी महाराज के प्रशिष्य

---

१-श्री स्वामी लाल गिरि जी महाराज पूर्व काल में एक बड़े महात्मा हो चुके हैं, वे योग के आठों अगों के सेवन में अहर्निश निष्णात रहते थे और उन की चित्तवृत्ति अत्यन्त ही शान्त तथा वैराग्ययुक्त

थी, योग के बल से उन में अनेक सिद्धियाँ भी विद्यमान थीं, उन की वाणी कभी अन्यथा नहीं जाती थी अर्थात् जिस से जो कुछ कह देते थे वही सिद्ध होता था, इसी कारण उन की महिमा यहाँ के राजकीय और प्रजासम्बन्धी जनों में अत्यन्त ही फैल रही थी, लोगों के दर्शनार्थ आने पर वे सब को सर्वदा कल्याणमार्ग का ही उपदेश करते थे अर्थात् प्रपञ्च की बातें उन्हें नाम को भी न सुहाती थीं, उदार, परोपकारी और दयालु ऐसे थे कि-स्वयं भोजन न कर भूख से पीड़ित अभ्यागत को भोजन करा देते थे, पास में संग्रह एक पैसे का भी नहीं रखते थे, उन्हों ने परोपकार दृष्टि से बीकानेर नगर में राजकीय आदि साहाय्य के द्वारा अलखसागर, अलखमठ और अलखक्षेत्र बनवाये थे, जो कि-अब तक विद्यमान हैं और उक्त महात्मा की अविचल कीर्त्ति का प्रकाश कर रहे हैं, इन में से प्रथम अलखसागर एक अति अगाध कूप (कुआ) है, जो कि-स्टेशन के पास धर्मशाला के सामने है; इस का जल बहुत ही स्वादिष्ठ और पाचक है, इस के बनवाने में अनुमान साठ सत्तर हजार रुपये का व्यय हुआ था, दूसरा अलखमठ एक परम दिव्य स्थान नगर के बाहर स्टेशन से थोड़ी दूर पर है, इसी स्थान में उक्त महात्मा विराजमान रहते थे, अब भी वहाँ प्रत्येक योग्य साधु ठहर सकता है, इस मठ के सम्बन्ध में राज की ओर से भी व्ययार्थ कुछ मासिक मिलता है, तीसरा-अलखक्षेत्र एक क्षेत्रस्थान है जो कि-नगर के बाहर अति सुन्दर बना हुआ है, इस में विद्यार्थी, साधु और ब्राह्मणादि को भोजन प्रदान किया जाता है अर्थात् प्रतिदिन कुछ नियमित मूर्तियों के भोजन का इस क्षेत्र में प्रबन्ध है, इस के अतिरिक्त उक्त महात्मा की क्रियासिद्धि की बड़ी श्लाघा यह की जा सकती है कि उन्हों ने क्रियासिद्धि के ही प्रभाव से बड़े २ अद्भुत चमत्कार दिखलाये हैं, जिन का वर्णन विस्तार के भय से नहीं किया जाता है, उक्त महात्मा का शरीरान्त हुए अब तक अनुमान ५४ वा ५५ वर्ष व्यतीत हुए हैं, मृत्यु के

थे, उन से मिलने पर दोनों महात्माओं में परस्पर अत्यन्त प्रीति हो गई और दोनों पास ही रहने लगे।

स्वामी जी महाराज के आगमन को सुन कर नगर के हज़ारों स्त्री पुरुष उन के दर्शन के लिये आने लगे और अलखमठ क्या मानो एक संगमस्थान हो गया।

बुद्धिमान् जानते ही होंगे कि-सांसारिक जनों में से ऐसे पुरुष बहुत ही कम होते हैं जो कि सच्ची और निष्कारण भक्ति को अपना कर्त्तव्य समझ कर साधुदर्शन के लिये आया करते हैं नहीं तो प्रायः सब ही लोग पुत्र, धन और सांसारिक अनेक अभिलाषाओं से ही साधुदर्शनार्थ आते हैं, स्वामी जी महाराज लोगों के उक्त भावों को जान कर उन से कहने लगे कि-"पुत्र और धन आदि के देने की हमारी शक्ति नही है; तुम लोगों के ये कार्य तो ईश्वराराधन और धर्मसेवन से ही हो सकते हैं; क्योंकि अभीष्ट फलों की प्राप्ति धर्मसेवन से ही होती है; हमारे

---

दिवस उन्हों ने प्रथम से ही कह दिया था कि आज हम अमुक समय पर शरीरत्याग करेंगे, उन के शिष्य श्री लच्छीगिरि जी महाराज थे तथा वे भी अपने गुरु के समान ही सर्वगुणसम्पन्न थे, श्री लच्छीगिरि जी महाराज के शिष्य श्री आत्मानन्द जी गिरि महाराज थे, ये महात्मा भी स्वगुरु और तद्गुरु के समान ही परम योगाभ्यासी थे, साधुमर्यादा में जो अनेक दोष पड़ गये हैं उन के सुधार और संशोधन के लिये उक्त महाराज ने यथाशक्य उत्तम प्रयास किया था, श्री आत्मानन्द जी गिरि महाराज के शिष्य ये ही श्री स्वामीब्रह्मानन्द जी गिरि महाराज हैं, जिन का संक्षिप्त वर्णन ऊपर लिखा गया है॥

१-क्यों न प्रीति हो जाती जब कि दोनों महात्मा एक स्वभाव के थे अर्थात् दोनों ही विवेकी, योगी, स्वार्थसिद्धिरहित तथा संसार के सच्चे त्यागी थे॥

पास तो यदि तुम को कुछ सत्संगति कर आत्मकल्याण की इच्छा हो तो आया करो" इस कथन के कर्णगत होने पर तो लोग इस प्रकार वहाँ से भागने लगे जैसे वन में आग लगने से मृग भागते हैं, उक्त अभिलाषाओं वाले कई लोगों ने इस बात को सुन कर भी इस आशा से स्वामी जी महाराज के पास का आना न छोड़ा कि ये पहुँचे हुए साधु मालूम होते हैं, क्योंकि पहुँचे हुए साधु प्रायः इसी तरह कहा करते है जैसा कि ये कहते हैं; शायद ये कुछ समय के पश्चात् प्रसन्न हो कर हमारी मनः कामनाओं को पूर्ण कर दें, परन्तु जन सब को यह विदित हो गया कि स्वामी जी अत्यन्त विरक्त और सब प्रपञ्चों से रहित हैं; तब तो केवल वे ही लोग वहाँ जाने लगे जिन को आत्मकल्याण की ही कुछ अभिलाषा थी और जो प्रपञ्चरहित महात्माओं का सत्सङ्ग करना परम हितकारक समझते थे।

पूर्वगुरु श्री परशुरामदास जी महा० का श्री स्वामी जी महाराज को यह उपदेश था कि-"पिछली अवस्था में संन्यास अवश्य ले लेना" अतः श्री स्वामी जी महाराज श्री स्वामी आत्मानंद जी गिरि महाराज के शिष्य बन गये और उन्हीं के द्वारा संन्यास का ग्रहण किया; जिस को अनुमान अब तक ग्यारह वर्ष व्यतीत हुए हैं।

श्री स्वामी जी महाराज कैसी शान्तवृत्ति वाले हैं इस बात को ठीक रीति से वे ही जन जान सकते हैं जिन्हों ने महाराज का सत्संग किया है वा करते हैं, यद्यपि इन की अवस्था वर्तमान में अनुमान ७० वर्ष की है तथापि ब्रह्मचर्य का ठीक रीति से सेवन करने के कारण इन का शरीर अभी तक नीरोग और स्वस्थ बना हुआ है जिस का अनुभव पाठकगण इन के प्रतिचित्र के द्वारा कर सकते हैं।

इतनी अवस्था होने पर भी महाराज अपने क्रियाभ्यास में तनिक भी त्रुटि नहीं पड़ने देते है अर्थात् प्रतिदिन के नैत्यिक अभ्यास के सिवाय कई २ मासों तक की तपश्चर्या, साधना और संयम आदि का भी अनुष्ठान करते हैं।

महाराज के शुद्ध अन्तःकरण की वृत्ति ऐसी शान्त है कि उस में छल, कपट, राग, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, क्रोध, अभिमान और लोभ आदि का स्पर्श स्वप्न में भी नहीं होता है।

वैद्यकविद्या का अभ्यास महाराज ने ब्रह्मचर्यसाधन के समय अच्छे प्रकार से किया था जिस के द्वारा अब भी अनेक रोगियों का महोपकार होता है, इन की ओषधियां ऐसी अद्भुत, चमत्कारिणी और शीघ्रफलदायिनी हैं कि वे जादू के समान असर करती हैं, उन्हीं के प्रभाव से अब तक हज़ारों रोगी अनेक घोर और प्राचीन रोगों से मुक्ति पा कर जीवन के आनन्द का उपभोग कर रहे है, विशेषता यह है कि-महाराज के नुसखे जड़ी बूँटी और रस आदि ही होते हैं, रस आदि पदार्थों का निर्माण महाराज अपने हाथ से ही बड़ी उत्तम विधि से करते है।

इस बात की हम महाराज की क्या श्लाघा करें कि-ये मनुष्यों का अकथनीय उपकार कर के भी किसी से एक पैसे की भी याचना नहीं करते है, क्योंकि साधु महात्माओं में उक्त गुण तो होना ही चाहिये, यदि कोई पुरुष आग्रहपूर्वक इन्हें कुछ दे भी जाता है तो ये उस द्रव्य को या तो किसी सुपात्र को दे देते हैं अथवा किसी अन्य शुभ कार्य में लगा देते हैं, उपकृत पुरुष जब इन से कुछ सेवा के लिये पूँछते हैं तब ये यही उत्तर देते हैं कि- "भाई जितनी तुम्हारी श्रद्धा हो उतना द्रव्य पुण्य दान में लगा दो, साधु महात्माओं को भोजन करा दो" इत्यादि, यदि आग्रहपूर्वक कोई पुरुष इन्हें कुछ विशेष द्रव्य दे भी जाता है तो